

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186325

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—707—25-4-81—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H80.1
V14H

Accession No. #2387

Author वासुदेव

Title दिव्या काव्यालंकार सूत्रहृतिः
1954.

This book should be returned on or before the date last marked below

हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला—ग्रन्थ १

परिणतवरश्रीवामनविरचिता
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः

['काव्यालङ्कारदीपिका' हिन्दीव्याख्याविभूषिता]

व्याख्याकार

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

अध्यक्ष, 'श्रीधर अनुसन्धान विभाग'

गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन

तथा

सम्मान्य सदस्य, हिन्दी अनुसन्धान परिषद्

दिल्ली विश्वविद्यालय

सम्पादक

डा० नगेन्द्र, एम.ए., डी.लिट्.

सर्वोदय सल्लिखण्ड मंदिर,

कोठी, (बसस्टण्ड), देवगाबाद द.

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

की ओर से

आत्माराम एण्ड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

द्वारा प्रकाशित

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मुद्रक
भ्यू इण्डिया प्रेस
कनाट सर्कस
नई दिल्ली

हमारी योजना

‘हिन्दी काव्यालङ्कारसूत्र’, ‘हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला’ का पहला ग्रन्थ है। हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, की संस्था है जिसकी स्थापना अक्टूबर १९५२ में हुई थी। इसका कार्य क्षेत्र हिन्दी भाषा एवं साहित्य विषयक अनुसन्धान तक ही सीमित है और कार्यक्रम मूलतः दो भागों में विभक्त है। पहले विभाग पर गवेषणात्मक अनुशीलन का और दूसरे पर उसके फलस्वरूप उपलब्ध साहित्य के प्रकाशन का दायित्व है।

परिषद् ने इस वर्ष पाँच ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना बनाई है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अतिरिक्त दो ग्रन्थ और प्रकाशित हो चुके हैं : (१) मध्य-कालीन हिन्दी कवयित्रियाँ और (२) अनुसन्धान का स्वरूप। अन्य दो ग्रन्थ—‘हिन्दी वक्रोक्तिजीवित’ तथा ‘हिन्दी साहित्य पर सूफ़ीमत का प्रभाव’ भी प्रेस में हैं। उपर्युक्त ग्रन्थों में से ‘अनुसन्धान का स्वरूप’ अनुसन्धान के मूल सिद्धान्त तथा प्रक्रिया के सम्बन्ध में मान्य आचार्यों के निबन्धों का सङ्कलन है; ‘हिन्दी वक्रोक्तिजीवित’ आचार्य ‘कुन्तक’ के प्रसिद्ध ग्रन्थ ‘वक्रोक्तिजीवितम्’ की हिन्दी-व्याख्या है, और शेष दोनों ग्रन्थ दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच. डी. के लिए स्वीकृत गवेषणात्मक प्रबन्ध हैं। इस योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की सुप्रसिद्ध प्रकाशन-संस्था—‘आत्माराम एण्ड संस’ के अध्यक्ष श्री रामलाल पुरी का सक्रिय सहयोग प्राप्त है। उनके अमूल्य सहयोग ने हमें प्रायः सभी प्रकार की व्यावहारिक चिन्ताओं से मुक्त कर यह अवसर दिया है कि हम अपना ध्यान और शक्ति पूर्णतः साहित्यिक कार्य पर ही केन्द्रित कर सकें। ‘हिन्दी अनुसन्धान परिषद्’ श्री पुरी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती है।

नगेन्द्र

अध्यक्ष

चैत्र शुक्ला प्रतिपदा, २०११ वि०

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

भूमिका

आचार्य वामन

और

रीति सिद्धान्त

लेखक—डा० नगेन्द्र

वक्तव्य

सामान्यतः भूमिका की भूमिका लिखना विचित्र ही लगता है। फिर भी दो-एक बातों का पृथक उल्लेख करना कुछ आवश्यक-सा हो गया है। काव्यशास्त्र के अध्ययन में ज्यों-ज्यों मैंने प्रवेश किया है त्यों-त्यों यह एक तथ्य मेरे मन में स्पष्ट होता गया है कि भारत तथा पश्चिम के दर्शनों की तरह ही यहाँ के काव्यशास्त्र भी एक-दूसरे के पूरक हैं, और पुनराख्यान आदि के द्वारा उनके आधार पर हमारे अपने साहित्य की परम्परा के अनुकूल एक संश्लिष्ट, आधुनिक काव्यशास्त्र का निर्माण सहज-सम्भव है। हिन्दी-ध्वन्यालोक तथा प्रस्तुत ग्रन्थ—हिन्दी-काव्यालङ्कारसूत्र और इनकी विस्तृत भूमिकाएँ इसी दिशा में विनम्र प्रयास हैं।

आज हिन्दी के वर्ण-योग के स्थिरीकरण के लिए प्रयत्न हो रहे हैं। थोड़ा कठिन होते हुए भी यह कार्य आवश्यक है, इसमें सदेह नहीं। मुझे खेद है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के मुद्रण में यह सम्भव नहीं हो सका। फिर भी मैंने पंचम वर्ण का प्रयोग प्रायः बचाया है, और हल् चिह्न का प्रयोग भी कम ही किया है। संस्कृत के नियमानुसार जगत, महान्, विद्वान्, बुद्धिमान्, पश्चात् और पृथक् सभी को हलन्त करने से हिन्दी के मुद्रणादि में अनावश्यक उलझन पैदा हो जाती है। मैंने इस सम्बन्ध में अपने लिए एक साधारण-सा नियम बना लिया है—और वह यह कि हल् का प्रयोग हमें या तो ऐसे शब्दों में करना चाहिए जो हिन्दी में हलन्त रूप में सर्व-स्वीकृत हो गये हैं यथा 'अर्थात्', 'वरन्' आदि, या फिर कुछ ऐसे शब्दों को हलन्त किया जा सकता है जिनका, हिन्दी में अपेक्षाकृत कम प्रचलन होने से, अभी संस्कृत-संस्कार नहीं छूटा है : उदाहरणार्थ—सम्यक्, ईषत्, किञ्चित् आदि। मैंने सामान्यतः इसी नियम का अनुसरण किया है—जहाँ कहीं नहीं हो सका वहाँ उसके लिए मेरा या मेरे प्रोफ़-शोधक का संस्कार ही उत्तरदायी हो सकता है।

—नगेन्द्र

होलिका-पर्व संवत्, २०१०

विषय-क्रम

१. आचार्य वामन	१
जीवन-वृत्त	
वामन के काव्य-सिद्धान्त	
काव्य की परिभाषा और स्वरूप	
काव्य की आत्मा	
काव्य का प्रयोजन	
काव्य-हेतु	
काव्य के अधिकारी	
काव्य के भेद	
आलोचना-शक्ति	
रीति-सिद्धान्त	३०
पूर्ववृत्त	
रीति की परिभाषा और स्वरूप	
रीति के आधार	
रीति के मूल तत्त्व	
रीति के नियामक हेतु	
रीति का प्रवृत्ति, वृत्ति तथा शैली से अन्तर	
गुण-विवेचन	५८
गुण के आधार-तत्त्व	
गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति	
नवीन शब्द-गुण तथा अर्थ-गुण	
गुण और रीति	
- गुण और अलंकार	
दोष-दर्शन	८१
दोष की परिभाषा	
दोष की मनोवैज्ञानिक स्थिति	
दोष-भेद	

५. रीति के प्रकार ६२
६. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में रीति ६७
प्लेटो, अरस्तू, सिसरो तथा अन्य रोमी रीतिकार, होरेस, डायोनी-
सियस, डिमेट्रियस, लॉन्जाइनस, क्विन्टीलियन, दान्ते, बेंन जॉन्सन,
नव्यशास्त्रवाद, पोप, स्वच्छन्दतावाद ।
७. हिन्दी में रीति-सिद्धान्त का विकास १४१
केशवदास, चिन्तामणि, कुलपति, देव, दास, अन्य रीतिकार,
आधुनिक रीतिकार, आधुनिक आलोचक, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,
डा० श्यामसुन्दरदास, सुमित्रानन्दन पन्त ।
८. रीति-सिद्धान्त का अन्य सिद्धान्तों के साथ सम्बन्ध १७६
रीति और अलंकार
रीति और वक्रोक्ति
रीति और ध्वनि
रीति और रस
९. रीति-सिद्धान्त की परीक्षा १८६

आचार्य वामन

भारतीय काव्य-शास्त्र के इतिहास में आचार्य वामन की कीर्ति अक्षय्य है। वे उन आचार्यों में से हैं जिन्होंने मौलिक सिद्धान्त की उद्भावना कर एक नवीन काव्य-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया।

वामन का जीवन-वृत्त भी संस्कृत के अन्य कवियों तथा आचार्यों की भांति ही तमसाच्छन्न है। उनके वंश, माता-पिता, संतान आदि के विषय में इतिहास सर्वथा मौन है। आविर्भाव काल के विषय में भी कोई निश्चित तथ्य उपलब्ध नहीं है—परन्तु वामनीय ग्रंथ के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर उसकी सीमाएं निर्धारित करना कठिन नहीं है। वामन के सिद्धान्त और उनके सूत्र, वृत्ति, श्लोक आदि के उल्लेख-उद्धरण राजशेखर, प्रतिहारेन्दुराज और अभिनव गुप्त में स्पष्ट मिलते हैं। राजशेखर ने वामन और उनके सम्प्रदाय का उल्लेख वामनीयाः रूप में किया है। 'ते च द्विधाऽरोचकिनः सतृणाभ्यव-हारिणश्च'। कवयोऽपि भवन्ति इति वामनीयाः। अर्थात् वे दो प्रकार के होते हैं। अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी। वामनीयों के मत से कवियों के भी उपर्युक्त दो प्रकार होते हैं। राजशेखर का समय दसवीं शताब्दी का प्रथम चरण है। उधर प्रतिहारेन्दुराज और अभिनव गुप्त ने भी स्थान स्थान पर वामन के उद्धरण दिये हैं। एक स्थान पर अभिनवगुप्त ने

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत् पुरःसरः।

अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः॥

इस श्लोक के विवेचन में लिखा है।

‘वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः, भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृदये गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोरिदमेकमेवोदाहरणं व्यतरद् ग्रन्थकृत् ।’ लोचन, पृ० ३७ ।

अर्थात् इस श्लोक में वामन के अनुसार आक्षेपालंकार है और भामह के अनुसार समासोक्ति । इस आशय को अपने मन में रख कर ग्रन्थकार आनन्दवर्धन ने समासोक्ति और आक्षेप दोनों का यह एक ही उदाहरण प्रस्तुत किया है ।

इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि अभिनव के मत से वामन आनन्द-वर्धन के पूर्ववर्ती हैं—अर्थात् उनका आविर्भाव सन् ८२० ई० से पूर्व हुआ था ।

यह तो हुई परवर्ती सीमा ।

अब पूर्ववर्ती सीमा लीजिए । वामन ने अपने काव्यालंकारसूत्र में कालिदास, भवभूति, बाण, माघ आदि के छन्द उद्धृत किये हैं जिनसे स्पष्ट है कि वे निस्संदेह ही इन कवियों के परवर्ती थे । भवभूति-कृत उत्तररामचरित के ‘इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिनयनयोः’—आदि पद को वामन ने रूपक अलंकार के उदाहरण रूप में उद्धृत किया है । इन कवियों में भवभूति का समय, जैसा कि डा० भण्डारकर ने मालती माधव की भूमिका में युक्ति-पूर्वक निर्देश किया है, सन् ७०० और ७४० के बीच में पड़ता है । उपर्युक्त शेष कवि प्रायः भवभूति के पूर्ववर्ती ही हैं—अतएव ७४० ई० को वामन के आविर्भाव काल की पूर्वावधि माना जा सकता है ।

उपर्युक्त अन्तःसाक्ष्यों के अतिरिक्त वामन के विषय में एक बहिःसाक्ष्य भी उपलब्ध है । राजतरंगिणी में कल्हण ने काश्मीर के अधिपति जयापीड के मन्त्रिमंडल में वामन का नाम भी लिखा है :

मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा ।

बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः ॥

राजतरंगिणी ४।४६७

काश्मीरी पण्डितों में यह अनुश्रुति है कि ये ही वामन काव्यालंकार-सूत्र के रचयिता थे और ये उद्भट के समकालीन एवं प्रतिद्वन्द्वी थे । प्रसिद्ध भारत-विद्या-विशारद बुहल्लर इसे मान्यता देने को प्रस्तुत हैं । वास्तव में इसके

विरुद्ध कोई प्रमाण मिलता भी नहीं है। वामन ने अपने विवेचन में दण्डनीति की शिक्षा आदि तथा कवि और काव्य के आभिजात्य पर जो बल दिया है उससे इस प्रवाद की यत्किंचित् पुष्टि भी होती है। जयापीड का राज्यकाल ८०० ई० है।

इस प्रकार वामन का आविर्भाव काल ७५० ई० और ८५० ई० के आस-पास ८०० ई० के लगभग निर्धारित किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त वामन के जीवन-वृत्त के विषय में और कोई विशेष तथ्य उपलब्ध नहीं हैं। उनके ग्रन्थ के अध्ययन से यह विदित होता है कि वे काव्य, काव्य-शास्त्र, दण्डनीति, व्याकरण आदि के निष्णात पण्डित थे—उनके स्वभाव में आभिजात्य और विचार में स्वच्छता थी। अभिनव गुप्त ने काव्यालंकारसूत्र में उद्धृत आत्मेपालंकार के उदाहरणों को वामन की ही अपनी रचना माना है—जिससे प्रतीत होता है कि इन्होंने कदाचित् थोड़ी बहुत काव्य-रचना भी की थी।

ग्रंथ :—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—वामन का एक ही ग्रन्थ उपलब्ध है काव्यालङ्कार-सूत्र। इसके तीन अंग हैं सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। जैसा कि पं० बलदेव उपाध्याय ने निर्देश किया है सूत्र-शाली में लिखा हुआ काव्यशास्त्र का कदाचित् यह एकमात्र ग्रन्थ है। साधारणतः भरत से लेकर अन्तिम आचार्यों तक सभी ने कारिका और वृत्ति को शैली ही अपनाई है। इस ग्रन्थ का वृत्ति भाग भी वामन का ही है जिसे उन्होंने कविप्रिया नाम दिया है :

प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।

काव्यालंकारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते ॥

काव्यालंकारसूत्र का उपर्युक्त मंगल-श्लोक वृत्ति के विषय में कोई संदेह ही नहीं छोड़ता। इसके अतिरिक्त प्रतिहारेन्दुराज, अभिनव गुप्त आदि सभी ने वृत्ति को वामन की ही रचना माना है। इसीलिए ग्रन्थ का नाम भी काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ही अधिक प्रसिद्ध है।

काव्यालङ्कारसूत्र में पांच अधिकरण हैं—और ये अधिकरण अध्यायों में विभक्त हैं। पहले अधिकरण में वामन ने काव्य की परिभाषा, काव्य के अंग, प्रयोजन, काव्य की आत्मा—रीति, काव्य-सहायक अर्थात् काव्यहेतुक, अधिकारी, काव्य के रूप आदि मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन किया है। दूसरे में 'दोष-दर्शन' है जिसके अन्तर्गत पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ के दोषों

का विवेचन है। तीसरा अधिकरण है 'गुण-विवेचन' जिसमें सबसे पहले तो वामन ने गुण और अलङ्कार का भेद स्पष्ट किया है—तदुपरान्त शब्द गुण और अर्थ-गुण का विस्तृत विवेचन है। इस अधिकरण में वामन ने शब्द-गुण और अर्थ-गुण का पार्थक्य प्रतिपादित करते हुए दश शब्द-गुण और दश अर्थ-गुणों की सूक्ष्म विवेचना की है। चौथे अधिकरण 'आलङ्कारिक' में अलङ्कारों का व्याख्यान है—और 'प्रायोगिक' नामक पंचम अधिकरण में शब्द-शुद्धि तथा संदिग्ध शब्दों के प्रयोग आदि की विस्तार से चर्चा है। यह अधिकरण संस्कृत व्याकरण पर आधारित है—अतः हिन्दी के विद्यार्थी के लिए इसकी विशेष सार्थकता नहीं है। परन्तु इससे वामन की निर्भ्रान्त समीक्षा-दृष्टि तथा सूक्ष्म व्याकरण ज्ञान का परिचय मिलता है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में मौलिकता की दृष्टि से वामन के ग्रन्थ के अनेक प्रतिद्वन्द्वी नहीं हैं। परवर्ती आचार्यों ने यद्यपि उसकी अत्यन्त कठोर आलोचना की है, फिर भी उसकी महत्ता असंदिग्ध है। मध्ययुग में दुर्भाग्य-वश इसका प्रचार लुप्त हो गया था। वामन के टीकाकार सहदेव के साक्ष्यानुसार मुकुल भट्ट नामक काश्मीरी पण्डित ने कहीं से इसकी प्रति प्राप्त कर इसका जीर्णोद्धार किया। सहदेव के अतिरिक्त गोपेन्द्र (तिप्पभूपाल), भट्ट गोपाल तथा महेश्वर आदि ने भी काव्यालंकारसूत्र पर टीकाएं लिखी हैं।

वामन के काव्य-सिद्धान्त

विवेचन क्षेत्र :

आचार्य वामन ने सामान्य रूप से काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, अधिकारी, काव्य-हेतुक, काव्य की आत्मा तथा काव्य के रूप आदि का, और विशेष रूप से रीति, गुण—शब्दगुण तथा अर्थ-गुण, अलंकार, दोष और शब्द-प्रयोग आदि का सूक्ष्म विवेचन किया है। काव्य के प्रसिद्ध दशांग में से उन्होंने रस और शब्द-शक्ति की समीक्षा नहीं की; ध्वनि का तो उस समय प्रश्न ही नहीं था। नायिका-भेद का सम्बन्ध रस और रूपक से ही अधिक है, इसलिए वामन की योजना में उसको भी कोई स्थान प्राप्त नहीं हुआ, वैसे भी गंभोर रुचि के आचार्यों ने उसकी उपेक्षा ही की है। इस प्रकार वामन ने काव्य के बहिरंग को प्रमुख रूप से अपना विवेच्य माना है, और उसी की सांगोपांग तथा सूक्ष्म-गहन व्याख्या की है। काव्य के आन्तरिक

तत्त्वों में उन्होंने गुणों को ही ग्रहण किया है—रस का गुण के ही एक तत्त्व रूप में उल्लेख किया गया है ।

काव्य की परिभाषा और स्वरूप :

(वामन ने यद्यपि काव्य की परिभाषा पृथक् रूप से नहीं दी, फिर भी आरम्भ में ही उन्होंने काव्य के लक्षण और स्वरूप का निर्देश किया है : काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते—अर्थात् गुणों और अलङ्कारों से संस्कृत (भूषित) शब्द और अर्थ के लिए 'काव्य' शब्द का प्रयोग होता है । इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए वामन ने लिखा है :—काव्य अलङ्कार के कारण ही ग्राह्य होता है *) अलंकार का अर्थ है सौन्दर्य और सौन्दर्य का समावेश दोषों के बहिष्कार और गुण तथा अलंकार के आदान से होता है । गुण नित्य धर्म हैं, अलङ्कार अनित्य—केवल गुण सौन्दर्य की सृष्टि कर सकते हैं परन्तु केवल अलङ्कार नहीं :—अर्थात् गुण की स्थिति अनिवार्य है, अलङ्कार की वैकल्पिक । इस प्रकार वामन के अनुसार गुणों से अनिवार्यतः और अलङ्कारों से साधारणतः युक्त तथा दोष से रहित शब्द-अर्थ का नाम काव्य है । वामन की इसा परिभाषा को ध्वनिवादी मम्मट ने यथावत् स्वीकार करते हुए काव्य का लक्षण किया है : तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृती पुनः क्वापि—काव्य उस शब्दार्थ का नाम है जो दोषों से रहित और गुणों से युक्त हो—साधारणतः अलंकृत भी हो परन्तु यदि कहीं अलंकार न भी हो तो कोई हानि नहीं । अर्थात् दोषों से रहित तथा गुणों से अनिवार्यतः एवं अलङ्कारों से साधारणतः युक्त शब्द-अर्थ को काव्य कहते हैं । मम्मट ने वामन का सिद्धान्त रूप से घोर विरोध किया है, परन्तु काव्य-लक्षण उन्होंने वामन का ही ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है । संस्कृत काव्य-शास्त्र में वामन के पूर्व भरत, भामह और दण्डी के काव्य-लक्षण मिलते हैं । भरत का वामन से मौलिक मतभेद है, भरत अन्तर्तत्त्व-रस को प्रधानता देते हैं, वामन बाह्य तत्त्व रीति को । भामह और दण्डी भी देहवादियों में ही आते हैं, अतएव इस प्रसंग में उन्हीं के लक्षणों का तुलनात्मक विवेचन अधिक सार्थक होगा ।

भामह का लक्षण इस प्रकार है : शब्दार्थौ सहितौ काव्यं—सहित अर्थात् सामंजस्यपूर्ण शब्द-अर्थ को काव्य कहते हैं । भामह ने शब्द और अर्थ

(*) काव्यं ग्राह्यमलंकारात् ॥१॥ सौन्दर्यमलंकारः ॥२॥ स दोषगुणालंकारहानादाना-
भ्याम् ॥३॥ (काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः १,१)

के सामंजस्य को काव्य की संज्ञा दी है। इसी प्रकार दण्डी ने काव्य को 'इष्टार्थव्यवच्छिन्नापदावली'—अर्थात् अभिलषित अर्थ को व्यक्त करने वाली पदावली माना है। उपर्युक्त दोनों लक्षणों में केवल शब्दावली का भेद है—इष्टार्थ को अभिव्यक्त करने वाला शब्द—और शब्द-अर्थ का साहित्य या सामंजस्य एक ही बात है क्योंकि शब्द इष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति तभी कर सकता है जब शब्द और अर्थ में पूर्ण सामंजस्य एवं सहभाव हो। आगे चलकर भामह और दण्डी के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि शब्द और अर्थ का सामंजस्य ही काव्य-सौन्दर्य है और वह अलङ्कार से अभिन्न है। इस प्रकार उनके अनुसार काव्य निसर्गतः अलङ्कार-युक्त होता है। भामह और दण्डी ने वास्तव में गुण और अलङ्कार में भेद नहीं किया—दोनों ही अलङ्कार हैं। देहवादी आचार्यों में कुन्तक का स्थान अन्यतम है। उनका मत है कि वक्रोक्तियुक्त बन्ध (पद-रचना) में सहभाव से व्यवस्थित शब्द-अर्थ ही काव्य है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं.... ।

यहां भी मूल तथ्य वही है—वचन-भंगिमा भिन्न है। 'गुण और अलङ्कार से युक्त' के स्थान पर कुन्तक ने केवल एक शब्द 'वक्रकविव्यापारशाली' प्रयुक्त किया है : वास्तव में भामह तथा दण्डी के अलङ्कार और वामन के गुण तथा अलङ्कार को कुन्तक ने वक्रोक्ति में अन्तर्भूत कर लिया है—और वे उसी के प्रस्तार मात्र बन गए हैं।

इनके विपरीत दूसरा वर्ग साहित्यिक आत्मवादियों का है—जिसके अन्तर्गत भरत, आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्य आते हैं। भरत ने रसमयी, सुखबोध्य मृदु-ललित पदावली को काव्य माना है—आगे के आचार्यों ने इसी में संशोधन करते हुये उसे रसात्मक वाक्य अथवा रसमयीार्थ-प्रतिपादक शब्द कहा है। इन आचार्यों ने स्पष्टतया आंतरिक तत्त्व अर्थ-सम्पदा पर अधिक बल दिया है, जबकि उपर्युक्त साहित्यिक देहवादियों ने बाह्य रूपाकार पर।

इस पृष्ठभूमि में वामन के लक्षण का विवेचन करने पर निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं :

(१) वामन शब्द और अर्थ दोनों को समान महत्त्व देते हैं—सहित

शब्द का प्रयोग न करते हुए भी वे दोनों के साहित्य को ही काव्य का मूल अंग मानते हैं ।

- (२) दोष को वे काव्य के लिए असह्य मानते हैं : इसीलिए सौन्दर्य का समावेश करने के लिए दोष का बहिष्कार पहला प्रतिबन्ध है ।
- (३) गुण काव्य का नित्य धर्म है—अर्थात् उसकी स्थिति काव्य के लिए अनिवार्य है ।
- (४) अलङ्कार काव्य का अनित्य धर्म है—उसकी स्थिति वांछनीय है, अनिवार्य नहीं ।

यह तो स्पष्ट ही है कि वामन का लक्षण निर्दोष नहीं है । लक्षण अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों से मुक्त होना चाहिये : उसकी शब्दावली सर्वथा स्पष्ट किन्तु संतुलित होनी चाहिये—उसमें कोई शब्द अनावश्यक नहीं होना चाहिए । इस दृष्टि से, पहले तो वामन का और वामन के अनुकरण पर मम्मट का दोष के अभाव को लक्षण में स्थान देना अधिक संगत नहीं है । दोष की स्थिति एक तो सापेक्षिक है, दूसरे, दोष काव्य में बाधक तो हो सकता है, परन्तु उसके अस्तित्व का सर्वथा निषेध नहीं कर सकता । काव्यत्व अथवा क्लीवत्व मनुष्य के व्यक्तित्व की हानि करता है, मनुष्यता का निषेध नहीं करता । इसलिए दोषाभाव को काव्य-लक्षण में स्थान देना अनावश्यक ही है । इसके अतिरिक्त अलङ्कार की वांछनीयता भी लक्षण का अंग नहीं हो सकती । मनुष्य के लिए अलंकरण वांछनीय तो हो सकता है, किन्तु वह मनुष्यता का अनिवार्य गुण नहीं हो सकता । वास्तव में लक्षण के अन्तर्गत वांछनीय तथा वैकल्पिक के लिए स्थान ही नहीं है । लक्षण में मूल, पार्थक्य-कारी विशेषता रहनी चाहिए : भावात्मक अथवा अभावात्मक सहायक गुणों की सूची नहीं । इस दृष्टि से भामह का लक्षण “शब्द-अर्थ का साहित्य” कहीं अधिक तत्त्व-गत तथा मौलिक है । जहां शब्द हमारे अर्थ का अनिवार्य माध्यम बन जाता है वहीं वाणी की सफलता है । यही अभिव्यञ्जनावाद का मूल सिद्धान्त है—क्रोचे ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में इसी का स्थापन और विवेचन किया है । आत्माभिव्यञ्जन का सिद्धान्त भी यही है । मौलिक और व्यापक दृष्टि से भामह का लक्षण अत्यन्त शुद्ध और मान्य है : परन्तु इस पर अतिव्याप्ति का आरोप किया जा सकता है, और परवर्ती आचार्यों ने किया भी है । आरोप यह है कि यह तो अभिव्यञ्जना का लक्षण हुआ—काव्य का नहीं । शब्द और अर्थ का सामंजस्य उक्ति की सफलता है—अभिव्यञ्जना

की सफलता है। परन्तु क्या केवल सफल उक्ति अथवा सफल अभिव्यंजना ही काव्य है ? हमारे आचार्यों ने—भरत से लेकर रामचन्द्र शुक्ल तक ने इसका निषेध किया है। उधर विदेश में भी अरस्तू से लेकर रिचर्ड्स तक सभी ने इसका प्रतिवाद किया है। भारतीय काव्य-शास्त्र में इसीलिए विश्वनाथ को 'रसात्मक' शब्द का प्रयोग करना पड़ा और पंडितराज जगन्नाथ को 'रमणीयार्थ प्रतिपादक' विशेषण लगाना पड़ा—शुक्ल जी ने भी इसीलिए रमणीय और रागात्मक शब्दों का प्रयोग किया है। इन आचार्यों के अनुसार प्रत्येक अर्थ और शब्द का सामंजस्य काव्य नहीं है—रमणीय अर्थ और शब्द का सामंजस्य ही काव्य है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक (सफल) उक्ति काव्य नहीं है सरस या रमणीय (रमणीय अर्थ को व्यक्त करने वाली) उक्ति ही काव्य है। अरस्तू ने भी भाव-वैभव पर इसी दृष्टि से अधिक बल दिया है—और आधुनिक मनोवैज्ञानिक आलोचक रिचर्ड्स भी, जो कि काव्य को मूलतः एक अनुभव मानते हैं, इस अनुभव के लिए—प्रकार की दृष्टि से नहीं—प्रभाव आदि की दृष्टि से कतिपय गुणों की स्थिति अनिवार्य मानते हैं। स्थूल शब्दों में प्रत्येक अनुभव काव्य नहीं है—समृद्ध अनुभव ही काव्य है।

परन्तु इस तर्क के विरुद्ध भामह के लक्षण के समर्थन में भी युक्ति दी जा सकती है—और वह यह कि शब्द और अर्थ का सामंजस्य अपने आप में ही रमणीय होता है उसके लिए रमणीय विशेषण की आवश्यकता नहीं। क्रोचे का यही मत है कि सफल उक्ति स्वयं सौंदर्य है—उसके अतिरिक्त सौंदर्य कोई बाह्य तत्त्व नहीं है। “सफल अभिव्यंजना ही सौंदर्य है क्योंकि कि असफल अभिव्यंजना तो अभिव्यंजना ही नहीं होती।” (क्रोचे)। भारतीय काव्य-शास्त्र में कुन्तक की सूक्ष्म दृष्टि इस तथ्य तक पहुँची है और उन्होंने इस विरोधाभास को दूर करने का प्रयत्न किया है। एक स्थान पर साहित्य अर्थात् शब्द और अर्थ के सहभाव का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि शब्द और अर्थ का यह सहभाव केवल वाच्य-वाचक-सम्बन्ध-रूप नहीं होना चाहिए—उसमें तो वक्रता-वैचित्र्य गुणालंकार-सम्पदा की मानो परस्पर स्पर्धा रहनी चाहिए।^१ अन्यथा केवल वाच्य-वाचक सम्बन्ध होने से तो वह आह्लाद-

१ रिच एक्सपीरियंस

२ वक्रताविचित्रगुणालंकारसम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोहः।

कारी नहीं होगा ।^१ परन्तु अन्यत्र अपने आशय को और भी स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि शब्द-अर्थ के साहित्य का अभिप्राय है अन्यून-अनतिरिक्त प्रयोग के कारण इन दोनों की मनोहारिणी अवस्थिति । इससे स्पष्ट व्यंजित होता है कि शब्द-अर्थ का अन्यून-अनतिरिक्त प्रयोग और तज्जन्य पूर्ण सामंजस्य अथवा साहित्य (सहभाव) स्वयं ही मनोहारी होता है ।^२

वामन का काव्य-लक्षण उपर्युक्त लक्षणों की अपेक्षा स्थूल है—‘गुण और अलंकार से युक्त’ तथा ‘दोष से रहित’ शब्दावली तत्त्व को शब्द-बद्ध नहीं करती—केवल गुणों का वर्णन करती है । वैसे यह लक्षण अशुद्ध नहीं है क्योंकि गुण और अलंकार के अन्तर्गत वामन ने काव्यगत सौंदर्य के विभिन्न रूपों को अन्तर्भूत कर—उन्हें एक प्रकार से सौंदर्य के पर्याय रूप में ही प्रयुक्त किया है : सौंदर्यमलंकारः । अतएव वामन के लक्षण का संक्षिप्त रूप यह हुआ : ‘सुन्दर (सौंदर्यमय) शब्दार्थ काव्य है ।’^३ और, यह लक्षण बुरा नहीं है । परन्तु वामन ने कदाचित् गुण और अलंकार का जानबूझकर प्रयोग इसलिए किया है कि उनका रीति-सिद्धान्त मूलतः गुण और सामान्यतः अलंकार पर ही आश्रित है अतएव अपने वैशिष्ट्य को व्यक्त करने के लिए उनका प्रयोग वामन के लिए अनिवार्य हो गया है ।

फिर भी कारण चाहे कुछ भी रहा हो यह लक्षण तात्त्विक न रह कर वर्णनात्मक हो गया है—अतएव लक्षण की दृष्टि से यह सर्वथा श्लाघ्य नहीं है ।

काव्य की आत्मा :

वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है : रीतिरात्मा काव्यस्य । जो सम्बन्ध शरीर का आत्मा के साथ है, वही शब्द-अर्थ रूप काव्य-शरीर का रीति के साथ है । रीति का अर्थ है विशिष्ट पद-रचना : विशिष्ट पद-रचना रीतिः । विशिष्ट का अर्थ है गुणयुक्त—विशेषो गुणात्मा । इस प्रकार रीति का अर्थ हुआ गुण सम्पन्न पद-रचना और ‘रीतिरात्मा काव्यस्य’ का अर्थ हुआ : गुणसम्पन्न पदरचना काव्य की आत्मा है ।

१ अन्यथा तद्विदाह्लादकारित्वहानिः ।

२ साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काव्यसौ ।

अन्यूनतातिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥

रीति के स्वरूप को और स्पष्ट करते हुए वामन ने लिखा है इन तीन रीतियों के भीतर काव्य इस प्रकार समाविष्ट हो जाता है जिस प्रकार रेखाओं के भीतर चित्र ।^१ इन तीन रीतियों (वैदर्भी, गौड़ीया, और प्रांचाली) में से वैदर्भी ही ग्राह्य है ।^२ इसमें ही अर्थ-गुण-सम्पदा का पूर्णतया आस्वादन किया जा सकता है । उसके उपधान (आश्रय) से थोड़ासा अर्थगुण भी आस्वाद्य (चमत्कारपूर्ण) हो जाता है । सम्पन्न अर्थगुण का तो कहना ही क्या ।^३

उपर्युक्त विवेचन से कृतिपय स्पष्ट निष्कर्ष निकलते हैं । काव्य मूलतः पदरचना है—अर्थात् वामन ने वस्तु और रीति (शैली) में रीति (शैली) को ही प्रधानता दी है । रीति का स्वरूप बहुत कुछ बाह्य ही है : चित्र में जो रेखा का स्थान है वही काव्य में रीति का काव्य उसी में निहित रहता है ; वस्तु—जिसके लिए वामन ने अर्थगुणसम्पदा शब्द का प्रयोग किया है, उसी के आश्रित है—रीति के उपधान से ही उसका सौंदर्य निखरता है । इस प्रकार वामन वस्तु को रीति के आश्रित मानते हैं—परन्तु वे वस्तु-तत्त्व का निषेध नहीं करते—उसका पृथक् अस्तित्व वे बिस्संदेह स्वीकार करते हैं : उन्होंने इसीलिए अर्थगुणसम्पदा और अर्थलेश—इन दो परिमाण-सूचक शब्दों का प्रयोग किया है ।

वस्तु और रीति के सापेक्षिक महत्त्व के विषय में साधारणतः चार सिद्धान्त हैं :

(१) एक सिद्धान्त तो यह है कि काव्य का मूल तत्त्व वस्तु (भाव तथा विचार) तत्त्व ही है : रीति सर्वथा उसी के आश्रित है । रीति केवल वाहन अथवा माध्यम है जो वस्तु की पूर्णतया अनुवर्तिनी है । महान् काव्यवस्तु अनिवार्यतः महान् शैली को अपेक्षा करती है । जुद्ध वस्तु का माध्यम जुद्ध ही होगा । स्वदेश-विदेश के प्राचीन आचार्यों का प्रायः यही मत रहा है । प्राचीन समृद्ध काव्य इस सिद्धान्त का उदाहरण है । यूनान के प्रसिद्ध नाट्यकार ऐस्काइलस ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में इसकी घोषणा की थी ।

१ एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति । तासां पूर्वा ग्राह्या ॥१४॥

२ तस्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या भवति ॥२०॥ तदुपारोहादर्थगुणलेशोऽपि ॥२१॥ तदुपधानतः खल्वर्थमलेशोऽपि स्वदते ।

३ किमंग पुनरर्थगुणसंपत् । [काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः (प्रथम अधिकरण)]

‘वहैन द सबजेक्ट इज़ ग्रेट.....देन ऑफ़ निसेसिटो ग्रेट गोज़ द वर्ड’।—काव्य-वस्तु के महान् होने से शैली अनिवार्यतः महान् हो जाती है। अरस्तू, लॉजाइनस, इधर मैथ्यू आर्नल्ड आदि का यही अभिमत था। मैथ्यू आर्नल्ड ने वस्तु-गौरव पर बहुत बल दिया है :—

“प्राचीन कवियों की अभिव्यंजना इतनी उत्कृष्ट इसलिए है क्योंकि वह अपनी शक्ति सीधे उस वस्तु-तत्त्व के अर्थ-गौरव से ग्रहण करती है।”^१—हमारे यहां इसकी सबसे प्रबल उद्धोषणा शुक्र जी ने की है।

(२) दूसरा सिद्धान्त इससे ईषत्-भिन्न व्यक्तिवादियों का है जो काव्य को मूलतः आत्माभिव्यंजन मानते हैं और वस्तु तथा रीति दोनों को ही व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानते हैं।

(३) तीसरा सिद्धान्त आधुनिक अभिव्यंजनावಾದियों का है जिसके अनुसार केवल रीति अथवा अभिव्यंजना की ही सत्ता है—वस्तु का उससे स्वतंत्र कोई अस्तित्व नहीं है। यह दूसरे सिद्धान्त से दूर नहीं है।

(४) चौथा सिद्धान्त वस्तु और रीति दोनों के समन्वय पर बल देता है—उसके अनुसार अर्थ और शब्द दोनों का समान अस्तित्व है। विदेश में भी पेटर, रैले आदि परवर्ती आलोचकों ने विषय और शैली दोनों—को समान गौरव प्रदान किया है।

वामन की स्थिति इन चारों से भिन्न है : वामन का दृष्टिकोण सर्वथा अव्यक्तिगत है—अतएव व्यक्तित्व की तो वे उपेक्षा ही कर गए हैं। उधर वस्तु-वादियों का भौति रीति की वस्तु की आश्रिता मानने का भी उनके लिए प्रश्न नहीं उठता। परन्तु अभिव्यंजनावಾದियों की भौति वस्तु-तत्त्व का निषेध भी वे नहीं करते। साथ ही वे दोनों का समान महत्व भी नहीं मानते : उन्होंने पद-रचना को ही काव्य माना है किन्तु उसके लिए गुण-सम्पन्नता अनिवार्य मानी है। गुण के अर्थगुण और शब्दगुण ये दो भेद कर, और कान्ति में रस की दीप्ति मानते हुए वामन ने अर्थ अथवा वस्तु की सत्ता तथा महत्व दोनों ही अंगीकार किये हैं, फिर भी सब मिलाकर सापेक्षिक महत्व रीति का ही है—जिसके बिना अर्थ-गुण-सम्पदा का उत्कर्ष सिद्ध ही नहीं हो सकता। इस प्रकार उनकी स्थिति वास्तव में अभिव्यंजनावादियों और समन्वयवादियों को मध्यवर्तिनी

है। वस्तु-तत्त्व की सत्ता स्वीकार कर वे अभिव्यंजनावादियों (विशेषकर परवर्ती अभिव्यंजनावादियों) से पृथक् हो जाते हैं और वस्तु-तत्त्व को रीति के आश्रित मानकर वे समन्यवादियों की कोटि से बाहर पड़ जाते हैं। वामन का सिद्धान्त (मैथ्यू आर्नल्ड और शुक्रजी जैसे) उन आलोचकों के सिद्धान्त के विपरीत है जो रीति को वस्तु की आश्रिता मानते हैं। साहित्य के क्षेत्र में उनको देह-शरीर ही मानना पड़ेगा—किन्तु वे ऐसे देहवादी हैं जो आत्मा की सत्ता का निषेध तो नहीं करते पर उसे मानते हैं पंचभूत का ही विलास।

काव्य का प्रयोजन :

मनुष्य के प्रत्येक कर्म का—निष्काम कर्म का भी कुछ न कुछ प्रयोजन होता है। शास्त्र तथा काव्य का भी निश्चित प्रयोजन होता है क्योंकि यदि प्रयोजन ही न हो तो उसकी क्या सार्थकता :

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।

यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते ॥

अतएव काव्य के प्रयोजन का अस्तित्व निस्संदेह मानना ही पड़ेगा—यह दूसरी बात है कि यह प्रयोजन स्थूल और भौतिक न होकर सूक्ष्म हो—अथवा चाहे वह काव्य से अभिन्न ही क्यों न हो। काव्य का प्रयोजन काव्य मानने वाले भी प्रयोजन के अस्तित्व का निषेध नहीं करते। संस्कृत बङ्गमय में प्रत्येक शास्त्र के चार अनुबन्ध माने गये हैं—जिनमें अनुबन्ध-चतुष्टय कहा गया है : अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन। वामन ने भी उपर्युक्त प्रश्न उठाते हुए काव्य के प्रयोजन का विवेचन किया है :

प्रश्न—अलंकरणान् काव्य से ऐसा क्या लाभ है जो उसके लिए इतना प्रयत्न किया जाए ?

उत्तर :—सत्काव्य दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के प्रयोजन सिद्ध करता है—ये हैं प्रीति (आनन्द) और कीर्ति।

सुन्दर काव्य का दृष्ट प्रयोजन है आनन्द और अदृष्ट प्रयोजन है कीर्ति।

इस आशय के कुछ श्लोक लीजिए :

सत्काव्य की रचना को यश की सरणि और कुकवियों की विडम्बना को अपयश की सरणि कहा गया है।

विद्वानों ने कीर्ति को स्वर्गभला कहा है जो सृष्टि पर्यन्त रहती है और अपकीर्ति को आलोकहीन नरक की दूतिका।

इस प्रकार वामन ने आनन्द और कीर्ति—ये दो काव्य के मूल प्रयोजन माने हैं। वामन के पूर्व और उनके उपरान्त भी अनेक आचार्यों ने इस विषय का विवेचन किया है। भरत मुनि ने लिखा है :

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।

लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥

अर्थात् यह नाट्य (काव्य) धर्म, यश और आयु का साधक, हित और बुद्धि का वर्धक तथा लोकोपदेष्टा होगा। इस प्रकार भरत के अनुसार काव्य के प्रयोजन हुए—धर्म, यश, आयु, हित, बुद्धि और उपदेश। भरत के उपरान्त मामह ने इसमें थोड़ा परिवर्तन-परिशोधन किया। उनके अनुसार

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।

करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥

सत्काव्य के सेवन से—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति, कलाओं में निपुणता, कीर्ति तथा प्रीति की उपलब्धि होती है। इनमें मामह के धर्म और अर्थ भरत के धर्म और हित हैं, कलाओं में विचक्षणता के लिए भरत ने एक शब्द बुद्धि का प्रयोग किया है, उधर मामह ने कीर्ति और भरत ने यश शब्द प्रयुक्त किया है। यहां तक तो दोनों आचार्यों के मत प्रायः समान ही हैं। परन्तु इसके आगे थोड़ा पार्थक्य है : मामह ने प्रीति—आनन्द—का स्पष्ट उल्लेख किया है, उधर भरत ने लोकोपदेश को भी स्वतंत्र रूप से काव्य का प्रयोजन माना है। परन्तु मेरी धारणा है कि यह भेद मौलिक न होकर शाब्दिक ही है क्योंकि लोकोपदेश—(लोकव्यवहार का उपदेश अथवा लोक का पथ निर्देशन) का अन्तर्भाव मामह के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में हो जाता है, और उधर रस को काव्य का मूल माननेवाले भरत के लिए भी प्रीति—आनन्द—उपेक्षणीय नहीं हो सकता।

आनन्द को सबसे प्रबल प्रतिष्ठा कुंतक ने की है। धर्मादि की प्राप्ति, व्यवहार का सुन्दर ज्ञान आदि तो काव्य के प्रयोजन हैं ही परन्तु सबसे बड़ी बात यह है कि काव्यामृत के रस से चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति से भी बढ़कर अन्तश्चमत्कार की उत्पत्ति होती है :—

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।

काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥

(व० जी० १, ५)

आगे चलकर आचार्यों ने प्रत्यक्ष इन्हीं प्रयोजनों की चर्चा की है। भोज के सर्वोत्कृष्टाभरण में इस प्रसंग में निम्नोद्धृत श्लोक दिया हुआ है :

अदोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम् ।

रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥

यहां भी भामह और वामन के कीर्ति और प्रीति इन दो प्रयोजनों का उल्लेख है। मम्मट ने इस प्रसंग में कुछ अधिक निश्चित शब्दावली का प्रयोग किया :

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदेशिवेतरत्तये ।

सद्यः परनिवृत्तये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे ॥

अर्थात् यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, अश्वि की क्षति, तात्कालिक आनन्द, और कान्तासम्मित उपदेश—ये छः काव्य के प्रयोजन हैं। मम्मट का मत भरत और भामह के मत से मूलतः भिन्न नहीं है। 'अश्वि की क्षति' कुछ नवीन सी झड़ना अवश्य प्रतीत होती है। परन्तु एक तो यह प्रयोजन दैविक चमत्कार पर आश्रित है, और कुछ विशेष कवियों से सम्बद्ध किंवदन्तियाँ ही इसका आधार हैं—इसलिए बहुत कुछ एकांगी तथा आकस्मिक है और आज के युग में यह विश्वसनीय भी नहीं हो सकता। दूसरे, भरत के हित शब्द में और भामह के चतुर्वर्ग में इसका अन्तर्भाव भी हो जाता है। सब मिला कर मम्मट का विवेचन स्थूल है—उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजन निश्चित अवश्य हैं, परन्तु मौलिक नहीं हैं—उन्होंने मूलभूत तत्वों को ग्रहण न कर व्यक्त परिणामों को ही लिया है। उन्हें काव्य के फल कहना अधिक संगत होगा। विश्वनाथ ने इन सबका पृथक् निर्देशन न कर चतुर्वर्ग में ही समाहार कर दिया है :—

चतुर्वर्गफलप्राप्ति सुखादल्पधियामपि ।

उपर्युक्त कारिका में चतुर्वर्ग को काव्य का उद्देश्य और सुख को उसकी विधि बताया गया है। किन्तु सुख यहाँ आनन्द का पर्याय नहीं है, सरल और रुचिकर का ही वाचक है।

उपर्युक्त विवेचन का सार इस प्रकार है

भरत से लेकर मम्मट आदि तक सभी आचार्यों ने काव्य-प्रयोजन का विवेचन कवि और सहृदय दोनों की दृष्टि से ही किया है। भरत-निर्दिष्ट प्रयोजनों में हित, बुद्धि-विवर्धन तथा लोकोपदेश तो सहृदय की दृष्टि से कहे

गये हैं—यश कवि की दृष्टि से और धर्म कदाचित् दोनों की दृष्टि से ही। इसी प्रकार भामह की कारिका में कलाओं में विचक्षणता तथा प्रीति पाठक के लिए कीर्ति कवि के लिए, और धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष दोनों के लिए कहे गये हैं। मम्मट में यह विभाजन विवेचन की स्थूलता के कारण और भी स्पष्ट हो जाता है : यश, अर्थ, और अशिव की कृति कवि के प्राप्य हैं, और व्यवहार-ज्ञान, सद्यःपरनिवृत्ति, कान्तासम्मित उपदेश पाठक के। त्रिश्वनाथ ने 'अल्पधियामपि' कह कर अपनी दृष्टि पाठक तक ही सीमित कर दी है। परन्तु कवि और सहृदय की दृष्टि से प्रयोजनों का यह विभाजन सर्वथा अन्तिम अथवा अतक्य नहीं है—उपर्युक्त प्रायः सभी प्रयोजनों को उभयमुख अर्थात् कवि और पाठक दोनों के लिए मानने में कोई मौलिक आपत्ति नहीं हो सकती।

वामन ने विस्तार में न जाकर काव्य के प्रयोजन केवल दो माने हैं : दृष्ट प्रयोजन प्रीति—आनन्द, और अदृष्ट प्रयोजन कीर्ति। उन्होंने अपने स्तर को न तो धर्म और मोक्ष जैसे परम तुरुषार्थों तक ऊँचा उठाया है और न वे अर्थोपार्जन के निम्नतर स्तर तक ही उतरे हैं। इनके अतिरिक्त भरत मम्मटादि द्वारा निर्दिष्ट काव्य के अन्य प्रयोजन इस प्रकार हैं :—बुद्धि-विवर्धन, कलाश्रम में विचक्षणता, लोक-व्यवहार-ज्ञान, और उपदेश। आधुनिक शब्दावली में इन सबका समाहार बौद्धिक विकास, व्युत्पन्नता और लोक-मंगल में हो जाता है। मोक्ष को रूढ़ अर्थ में तो काव्य का प्रयोजन आज नहीं माना जा सकता—परन्तु मोक्ष का अर्थ यदि मुक्तावस्था किया जाय—तो निस्सन्देह ही काव्य का उच्चतम लक्ष्य (शुक्लजी के शब्दों में) हृदय की मुक्तावस्था ही तो है—जहाँ मनुष्य अपने लुप्त राग-द्वेष—अपने और पराये की भावना से ऊपर उठ कर रसवती भूमिका में पहुँच जाता है। काव्य का इससे भव्यतर लक्ष्य आधुनिक काव्य-शास्त्र और मनोविज्ञान दोनों मिलकर भी नहीं खोज सके हैं। परन्तु वामन ने इन सभी को अप्रासंगिक मान कर छोड़ दिया है और काव्य के केवल दो ही प्रयोजन माने हैं प्रीति और कीर्ति। उनकी वृत्ति से प्रतीत होता है कि साधारणतः कीर्ति कवि की सिद्धि और आनन्द पाठक का प्राप्य है, तथापि मूलतः इन दोनों की व्यवस्था कवि और पाठक दोनों के लिए ही की गयी है।

वामन की दृष्टिकोण शास्त्रीय—या यों कहिए कि शास्त्र-सीमित ही

रहा ह—दाशानक आर तात्वक नहा हा पाया । उन्हान एक साधा प्रश्न उठाया है : और उसका सोधा ही उत्तर दिया है—उनकी दृष्टि प्रत्यक्ष पर ही रही है—मूल तत्व पर नहीं गई, इसीलिए उन्होंने भामह के अन्तिम दो प्रत्यक्ष प्रयोजनों को ही ग्रहण किया है । इन दोनों में भी वामन ने कीर्ति पर ही अधिक बल दिया है । कीर्ति की प्रशस्ति में उद्धृत श्लोक इसके प्रमाण हैं । इसमें संदेह नहीं कि कीर्ति के प्रति मनुष्य की बहुत बड़ी पृष्णा रहती है, और कवि के लिए भी वह बाह्य दृष्टि से एक प्रबल प्रलोभन है ही—परन्तु फिर भी काव्य का वह आधारभूत प्रयोजन नहीं है—धन उससे भी निम्नतर कोटि का है : इन दोनों को प्रासंगिक फल ही माना जा सकता है । कीर्ति को प्रयोजन मान कर महान काव्य की रचना संभव नहीं है । वह उसका एक परिणाम मात्र ही हो सकती है । काव्य का मूल प्रयोजन तो आनन्द ही है : सकलप्रयोजनमौलिभूतमानन्दं... वेद्यान्तरस्पर्शशून्यं । वामन ने निस्संदेह ही उसको स्वीकार किया है—परन्तु उसको उचित गौरव नहीं दिया । कीर्ति और प्रीति—इन दोनों में कीर्ति बाह्य गुण है—प्रीति आन्तरिक; पहले का अस्तित्व प्रदर्शनात्मक है, दूसरे का अनुभूत्यात्मक । अतएव यह अस्वभाविक नहीं है कि काव्य के बाह्य उपकरण रीति को आत्मा मानने वाले शास्त्रकार का ध्यान कीर्ति के प्रति अधिक आकृष्ट हुआ है और रस-जन्य प्रीति के प्रति कम ।

आधुनिक काव्य शास्त्र में काव्य के मूलतः दो प्रयोजन माने गए हैं : (१) व्यक्तिगत : आनन्द (२) सामाजिक : लोकमंगल । भारतीय काव्य-शास्त्र में वर्णित प्रयोजनों का भी इसी प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है । प्रीति, बुद्धि-वर्द्धन, कला-नैपुण्य आदि व्यक्तिगत सिद्धियां हैं : लोकव्यवहार, लोकोपदेश, हित आदि सामाजिक हैं । कीर्ति और अर्थ की भी गणना व्यक्तिगत सिद्धियों के अन्तर्गत ही की जाएगी—परन्तु जैसा कि मैंने अभी कहा, वे काव्य की प्रासंगिक सिद्धियां मात्र ही हैं—लक्ष्य नहीं हैं । वामन ने सामाजिक पक्ष की तो पूर्णतया उपेक्षा ही की है—प्रीति को कीर्ति की अपेक्षा कम महत्त्व देकर व्यक्तिगत पक्ष को भी वाञ्छित गौरव नहीं दिया । इसका कारण यही है कि उनकी दृष्टि काव्य के बाह्य पर ही अटकी रही—मूल तत्वों तक नहीं पहुँच सकी ।

काव्य-हेतु :—वामन ने काव्य-हेतु के लिए काव्यांग शब्द का प्रयोग किया है और राजशेखर ने उन्हें काव्य-माताएं माना है । परन्तु साधा-

रणतः काव्य के सहायक अंगों के लिए काव्य-हेतु शब्द ही प्रचलित हो गया है। वामन ने काव्य के हेतु तीन माने हैं : लोक, विद्या और प्रकीर्ण।

लोक :— लोक का अर्थ है लोक-व्यवहार।

विद्या :— शब्द-शास्त्र, कोश, छन्दशास्त्र, कला, दण्डनीति, आदि विद्याएं हैं। शब्द-शास्त्र से शब्द-शुद्धि आती है। शब्द-कोश से शब्द के अर्थ का निश्चय होता है। किन्तु अपूर्व शब्दों के लिये कोश का उपयोग करना उचित नहीं है। अप्रयुक्त (अप्रचलित) शब्दों का प्रयोग काव्य में नहीं करना चाहिये। छन्द-शास्त्र के द्वारा छन्द-सम्बन्धी संशय का नाश होता है। कलाशास्त्र के अध्ययन से कला-तत्त्व का बोध होता है। कला-तत्त्व की उपलब्धि के बिना कला-कृति की रचना सम्भव नहीं है। काम-शास्त्र से प्रणय-रीति का ज्ञान प्राप्त होता है : काव्य-विषय में प्रायः प्रणय-रीति का ही बाहुल्य रहता है। दण्डनीति (राजनीति से) नीति और अनीति की पहचान होती है। षाड्गुण्य अर्थात् सन्धि और विग्रह, यात्रा और विराम, विभाजन और सम (संयोग)—इन छः गुणों का यथावत् प्रयोग नीति है। उसका वैपरीत्य अनीति है। इनका ज्ञान हुए बिना काव्य में नायक प्रतिनायक के कार्यों का वर्णन नहीं किया जा सकता। दण्डनीति के अध्ययन से कथावस्तु में जटिलता आती है। इतिहास आदि (पर आश्रित) इतिवृत्त काव्य का शरीर है। इतिवृत्त में जटिलता दण्डनीति से ही आती है। इसी प्रकार अन्य विद्याओं के लाभ भी बताए जा सकते हैं।

प्रकीर्ण :—प्रकीर्ण के अन्तर्गत लक्ष्य-ज्ञान, अभियोग, वृद्धसेवा, अवेक्षण, प्रतिभान और अवधान आते हैं।

लक्ष्यज्ञान का अर्थ है दूसरों के काव्य से परिचय, अभियोग से तात्पर्य है काव्य-रचना में उद्यम—लगन, काव्य कला की शिक्षा देने योग्य गुरुजन की सेवा वृद्ध-सेवा है, पदों को रखना और हटाना अर्थात् उपयुक्त शब्द का चयन और अनुपयुक्त का त्याग अवेक्षण कहलाता है। प्रतिभान तो कवित्व का बीज है : यह एक जन्मान्तर-गत संस्कार-विशेष है जिसके बिना काव्य सम्भव नहीं है, और यदि सम्भव है तो उपहास्य होता है। चित्त की एकाग्रता अवधान है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य-हेतुओं का विस्तार से उल्लेख है। वामन से पूर्व भामह और दण्डी ने भी उनका स्पष्ट विवेचन किया है। दण्डी ने काव्य के तीन कारण माने हैं :

नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतश्च बहु निर्मलम् अमन्दश्चाभियोगश्च, कारणं काव्य-सम्पदः ।

काव्यादर्श १११०३

—निसर्गजात प्रतिभा, निर्भ्रान्त लोक-शास्त्र-ज्ञान, और अमन्द अभियोग। मम्मट ने इन्हें और भी व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है : उन्होंने इन्हें क्रमशः शक्ति, निपुणता और अभ्यास नामों से अभिहित किया है। परवर्ती आचार्यों ने प्रायः मम्मट की व्यवस्था को ही स्वीकृत कर लिया है ; परन्तु प्रतिभा और निपुणता के सापेक्षिक महत्व पर थोड़ा विवाद रहा है। भामह ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिभा की महत्व-प्रतिष्ठा की है : गुरु के उपदेश से शास्त्र का अध्ययन तो जड़बुद्धि भी कर सकते हैं, परन्तु काव्य की रचना प्रतिभावान ही कर सकता है। उधर दण्डी ने प्रतिभा की महत्ता स्वीकार करते हुये भी श्रम और यत्न को पर्याप्त महत्व दिया है। रुद्रट एक चरण और आगे बढ़ गये हैं और उन्होंने प्रतिभा को भी आहार्य—या उत्पाद्य माना है : सहजोत्पाद्या सा द्विधा भवति। इनके अतिरिक्त, प्रायः सभी ने प्रतिभा को नैसर्गिकी माना है—और उसे निपुणता तथा अभ्यास से श्रेष्ठतर घोषित किया है। आनन्दवर्धन ने लिखा है कि व्युत्पत्त्याभाव-जन्य दोष का कवि को प्रतिभा द्वारा संवरण हो जाता है। वाग्भट्टादि भी प्रतिभा को काव्य का कारण और व्युत्पत्ति आदि को उसका भूषण मात्र माना है। और, यही मत पण्डितराज जगन्नाथ का है ; वे व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा का पोषक मानते हैं। इस परम्परा में अपवाद केवल आचार्य मंगल हैं जिन्होंने व्युत्पत्ति को प्रतिभा से श्रेष्ठतर माना है और आनन्दवर्धन के वज़न पर लिखा है : “कवि की व्युत्पत्ति उसकी अशक्ति का संवरण कर लेती है।” परन्तु मंगल का मत अतिवाद मात्र है और आनन्दवर्धन का सिद्धान्त ही विवेक-संगत है।

इसमें संदेह नहीं कि वामन ने प्रतिभा (प्रतिभान) को कवित्व का बीज माना है जिसके बिना काव्य-रचना सम्भव नहीं है, और यदि है भी तो उपहास्य हो जाती है। परन्तु फिर भी उनके सम्पूर्ण विवेचन से यह परि-लक्षित होता है कि उन्होंने प्रतिभा को वाञ्छित गौरव नहीं दिया। एक तो उन्होंने काव्य के जो तीन अंग माने हैं उनमें लोक और विद्या को पहले स्थान दिया है। प्रतिभा का उन्होंने तीसरे काव्यांग प्रकीर्ण के अन्तर्गत उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने लोक और विद्या को सर्वथा स्वतंत्र महत्व दिया है जबकि मन्थ आचार्यों ने उन्हें प्रतिभा के पोषक—अथवा प्रतिभा द्वारा

अनुशासित ही माना है। प्रतिभा की प्रतिष्ठा वासना अर्थात् आत्मपरक दृष्टि-कोण की प्रतिष्ठा है। वामन ने उसका निषेध तो नहीं किया—कर भी नहीं सकते थे। परन्तु उसे प्रकीर्ण में फँक दिया है।

वामन के विवेचन में एक वैचित्र्य और है। अन्य आचार्यों ने लोक और शास्त्र को पृथक् पृथक् ग्रहण न कर उनके परिणामस्वरूप निपुणता को ही संयुक्त रूप से काव्य का हेतु माना है। उनके मतानुसार लोक-व्यवहार-ज्ञान अथवा शास्त्र-ज्ञान अपने आप में काव्य का हेतु नहीं हो सकता, वरन् इन दोनों के समवेत प्रभाव-रूप निपुणता ही कवि-कर्म में सहायक हो सकती है। मम्मट तो वास्तव में और भी आगे गए हैं—उन्होंने शक्ति, निपुणता और अभ्यास को भी पृथक् पृथक् काव्य के हेतु नहीं माना—वरन् इन तीनों को समन्वित रूप से काव्य का हेतु माना है (हेतुर्न तु हेतवः)। और वास्तव में यही ठीक भी है—क्योंकि न तो लोकव्यवहार-ज्ञान और न शास्त्रीय पाण्डित्य ही काव्य का कारण हो सकता है :

इशक को दिल में दे जगह नासिख

इल्म से शायरी नहीं आती।

संस्कृत के माघ, हिन्दी के केशवदास, अंगरेज़ी के मिल्टन आदि कवियों के काव्य साक्षी हैं कि लोकानुभव और शास्त्र-ज्ञान दोनों का ही स्वतंत्र और सीधा प्रयोग काव्य में बाधक हो जाता है। इनका अप्रत्यक्ष उपयोग ही श्रेयस्कर है—अर्थात् इनके द्वारा प्राप्त व्युत्पन्नता ही कवि के व्यक्तित्व और व्यक्तित्व के द्वारा उसके काव्य को समृद्ध करती है। वामन ने इनका पृथक् निर्देश कर इस सत्य की उपेक्षा की है। परन्तु इन दोनों त्रुटियों के लिए वामन की वस्तु-परक—अथवा—बाह्यार्थ-निरूपिणी दृष्टि हो उत्तरदायी है। पूर्व-जन्म के अर्जित संस्कार जिनका नाम है प्रतिभा, और इस जन्म में लोकानुभव तथा शास्त्राध्ययन द्वारा अर्जित साहित्यिक संस्कार (लिटरेरी कल्चर) जिनको काव्य शास्त्र में निपुणता कहा गया है, आंतरिक गुण हैं : इनकी संगति रस और ध्वनि के साथ ही अधिक बैठती है। इसके विपरीत लोकानुभव और शास्त्र-ज्ञान बाह्य गुण हैं। अतएव रीति अर्थात् विशिष्ट पदरचना को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य के लिए लोक और विद्या को स्वतंत्र रूप से काव्य-हेतु मानना भी संगत ही है।

काव्य के अधिकारी :—अनुबन्ध-चतुष्टय का एक मुख्य अंग है

अधिकारी। वामन ने अधिकारी-निरूपण अत्यन्त स्पष्ट और निर्भीक शब्दों में किया है। उन्होंने कवियों के दो वर्ग किये हैं : अरोचकी और सन्तुष्टाभ्य-वहारी। ये दोनों यहां गौणार्थ—लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं : इनका क्रमशः अर्थ है विवेकी और अविवेकी। इनमें विवेकी ही काव्य-शास्त्र की शिक्षा के अधिकारी हैं—अविवेकी नहीं, क्योंकि उनमें विवेचन की शक्ति का सर्वथा अभाव रहता है। यहां यह प्रश्न किया जा सकता है : तो फिर यह शास्त्र सर्व-हितकारी नहीं हुआ। इसके उत्तर में कहते हैं : तो मानता कौन है ? शास्त्र अकिंचन के लिए हितकर नहीं हो सकता।^१ आगे चलकर राजशेखर ने पाठक के भी यही भेद किए, और वास्तव में पाठक के सम्बन्ध में ही यह वर्गीकरण उचित भी है। क्योंकि पाठक तो अविवेकी होते हैं, परन्तु साधारणतः अविवेकी व्यक्ति कवि नहीं हो सकता—जिसमें विवेचन-बुद्धि का सर्वथा अभाव है वह कवि क्या होगा ? परन्तु सस्कृत काव्य-शास्त्र में कवि और पाठक में कोई मौलिक भेद नहीं माना गया। अतएव काव्य के अधिकारी और काव्य शास्त्र के अधिकारी में भी कोई मौलिक भेद नहीं है—जो काव्य-शास्त्र का अधिकारी है वही काव्य का भी अधिकारी है।

इस प्रकार वामन ने केवल उसी को काव्य का अधिकारी माना है जिसमें विवेचन-बुद्धि है—काव्य और काव्य-शास्त्र सबके लिए न होकर व्युत्पन्न तथा विवेकशील व्यक्तियों के लिए ही हैं। वे काव्य को सार्वजनिक सम्पत्ति न मानकर विशिष्ट समुदाय का ही विशेषाधिकार मानते हैं। उनके अनुसार काव्य बहुजनहिताय नहीं है—इसीलिए कदाचित् उन्होंने लोकमंगल को काव्य का प्रयोजन नहीं माना। वे एक प्रकार के साहित्यिक अथवा बौद्धिक आभिजात्य में विश्वास करते हैं। काव्य के विषय में यह प्रश्न अत्यन्त मौलिक और प्राचीन है : काव्य सबके लिए है—या एक विशिष्ट वर्ग के लिए ? काव्य-दर्शन का विवेचन करने वाले आचार्यों में इस विषय में मतभेद रहा है। जो काव्य को जीवन की एक मौलिक प्रवृत्ति मानते हैं, उनके लिए तो निश्चय ही काव्य जीवन के अन्य सत्त्यों की भांति सार्वजनिक और सर्व-जनहिताय है—परन्तु जो काव्य को एक कला मानते हैं उनके मत से—शिक्षा और संस्कार-सम्पन्न निपुण सामाजिक-वर्ग ही काव्य का अधिकारी है। विश्व-काव्य वास्तव में सभी के लिए होता है—और कला-काव्य विशिष्ट

व्युत्पन्न वर्ग के लिए ही। वामन ने स्वभावतः अपना मत इस दूसरे वर्ग के पक्ष में ही दिया है।

काव्य के भेद :— वामन ने काव्य का वर्ग-विभाजन दो प्रकार से किया है : माध्यम के आधार पर और विषय के आधार पर। माध्यम की दृष्टि से काव्य के दो भेद हैं गद्य और पद्य। गद्य का पहले निर्देश किया गया है क्योंकि स्वरूप सर्वथा अनिश्चित होने के कारण इसकी रचना अत्यन्त कठिन होती है। एक उक्ति है : गद्य को कवियों की कसौटी कहा गया है। गद्य के तीन भेद हैं—वृत्तगन्धि, चूर्ण और उत्कलिकाप्राय। वृत्तगन्धि गद्य का वह रूप है जिसमें पद्य के अंश वर्तमान रहते हैं—उदाहरण के लिए—‘पाताल-तालुतलवासिपु दानवेपु’ (अर्थात् पातालतलवासी दानवों में) संस्कृत के इस उद्धरण में वसंततिलका छन्द का अंश स्पष्ट लक्षित होता है। चूर्ण गद्य का वह रूप है जो अनाविद्ध और ललितपद होता है—अर्थात् जिसमें छोटे छोटे समास और ललित (कोमल-मधुर) पद होते हैं। उत्कलिकाप्राय गद्य चूर्ण के विपरीत आविद्ध और उद्धतपद होता है—अर्थात् उसमें बड़े बड़े समास और कठोर पद होते हैं।

पद्य के अनेक भेद हैं : सम, अर्धसम और विषम आदि के भेद से उसके अनेक भेद हैं।^१

इसके उपरान्त वामन ने विषय की दृष्टि से गद्य-पद्य-मय काव्य के दो भेद किये हैं : अनिबद्ध और निबद्ध। अनिबद्ध मुक्तक का पर्याय है और निबद्ध के लिए काव्य-शास्त्र में प्रबन्ध शब्द प्रचलित है—वामन ने उसको सन्दर्भ-काव्य भी कहा है। उन्होंने इसके लक्षण तो नहीं दिये—क्योंकि वे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, परन्तु इनके सापेक्षिक महत्व का विवेचन किया है : इन दोनों की सिद्धि माला और उत्तंस की भाँति क्रम से होती है—अर्थात् अनिबद्ध (मुक्तक) रचना में सिद्धि प्राप्त कर लेने के उपरान्त ही निबद्ध (प्रबन्ध) की रचना में सफलता मिलती है, जिस प्रकार कि माला गूँथने के बाद ही उत्तंस (फूलों का मुकुट) गूँथना सम्भव है। कुछ व्यक्ति मुक्तक रचना तक ही अपना कवि-कर्म सीमित रखते हैं—यह ठीक नहीं है। अग्नि के पृथक परमाणु की भाँति मुक्तक रचना कभी नहीं चमकती।^२

१ काव्यालंकारसूत्र

२ काव्यालंकारसूत्र

संदर्भों में—प्रबन्ध काव्यों में दशरूपक सबसे श्रेष्ठ होते हैं। तरह तरह की विशेषताओं (काव्य, गीत, नृत्य, रंगशोभा आदि) के कारण रूपक चित्र-विचित्र रंग वाले पट के समान मनोरंजक होता है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार इस प्रसंग में वामन की तीन मान्यताएं हैं।

(१) गद्य-रचना पद्य-रचना की अपेक्षा कठिन होती है। इसीलिए गद्य को कवियों की कसौटी कहा गया है।

(२) मुक्तक और प्रबन्ध में प्रबन्ध का गौरव अधिक है—उनके मतानुसार मुक्तक के स्फुट कलेवर में—काव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य का प्रकाशन नहीं हो सकता। मुक्तक प्रबन्ध का एक सोपान मात्र है—उसकी सार्थकता इसी में है कि उसकी रचना द्वारा प्रबन्ध-रचना में नैपुण्य प्राप्त होता है।

(३) काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप नाटक है क्योंकि (अ) वह एक मिश्र कला है जो काव्य, संगीत, नृत्य, रंग-शोभा आदि के चित्र-विचित्र वैभव द्वारा मनोरंजन करती है, और (आ) काव्य के अन्य भेद प्रबन्ध, कथा आख्यायिका आदि सब का समावेश उसके अन्तर्गत रहता है।

इन तीनों का अब एक एक करके विवेचन करते हैं : वामन का पहला मन्तव्य है कि गद्य-रचना पद्य-रचना की अपेक्षा कठिन है—इसीलिए गद्य कवि-कौशल की कसौटी है। यह मन्तव्य भारतीय वाङ्मय की आरम्भिक अवस्था का द्योतक है जब साहित्य मुख्यतः पद्यमय ही था—पद्य जब अभिव्यक्ति का सहज माध्यम था, और गद्य प्रयत्न-साध्य। परन्तु इस प्रकार गद्य और पद्य का विभाजन और उस पर आधृत वामन का यह अभिमत अधिक तार्त्विक नहीं है क्योंकि यह काव्य को रचना-नैपुण्य मात्र मान कर चलता है। परन्तु काव्य वास्तव में रचना-नैपुण्य मात्र नहीं है—वह जीवन की अभिव्यक्ति है और गद्य और पद्य का अन्तर केवल पद-रचना पर अश्रित न होकर अभिव्यक्तिकर्ता के स्वभाव और अभिव्यक्ति के विषय से सम्बद्ध है। इनका भेद केवल बाह्य नहीं है—आन्तरिक है : वह केवल लय-युक्त और लय-मुक्त पद-रचना का—अथवा, और यथार्थ रूप में, नियमित लय और अनियमित लय का भेद मात्र नहीं है—वह प्रेरक अनुभूति अथवा संवेद्य विषय—और, इससे भी आगे, साहित्यकार के व्यक्तित्व का भेद है। गद्य और पद्य साहित्य के इस विकास-काल में यह तथ्य अत्यन्त स्पष्ट हो गया है। उपन्यास और

महाकाव्य तितली और कामायनी की शैलियों में केवल अनियमित लय और नियमित लय के माध्यम का ही भेद नहीं है, न तितली का माध्यम कामायनी के माध्यम से कठिन है, और न तितली की शैली को कामायनीकार के लिए कसौटी ही माना जा सकता है।

वामन की दूसरी स्थापना यह है कि कवि का वास्तविक गौरव प्रबन्ध-रचना में ही है, मुक्तक की रचना उस उच्चतर लक्ष्य की प्राप्ति का सोपान मात्र है : मुक्तक की संक्षिप्त परिधि में काव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य का प्रकाशन सम्भव नहीं है। इस स्थापना में इतना सत्य तो अवश्य है कि प्रबन्ध काव्य में जीवन का पूरा चित्र रहता है—और मुक्तक में किसी क्षणिक स्थिति अथवा मनोदशा आदि का। इसलिए प्रबन्ध का प्रभाव अधिक स्थायी तथा व्यापक होता है और मुक्तक का प्रभाव अचिर होता है। इसीलिए विश्व के अनेक आचार्यों का झुकाव प्रबन्ध की ओर रहा है—भारत और यूरोप के प्राचीन आचार्यों का काव्य-विवेचन बहुत सीमा तक प्रबन्ध को ही आदर्श मान कर किया गया है, आधुनिक युग में भी शुक्लजी जैसे विवेकशील आलोचक ने भी प्रबन्ध को ही प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से आदर्श माना है। परन्तु व्यवहार-दृष्टि से एक विशेष सीमा तक मान्य होते हुए भी, यह सिद्धान्त तत्त्व-दृष्टि से प्रामाणिक नहीं है कि मुक्तक में—जिसमें गीतिकाव्य का भी अन्तर्भाव है, काव्य-सौन्दर्य का सम्यक उद्घाटन—दूसरे शब्दों में रस का सम्यक परिपाक नहीं हो सकता। आनन्दवर्धन ने इसी असंगति को दूर करने के लिए ध्वनि-सिद्धान्त की उद्भावना की थी। इसमें सदेह नहीं कि मुक्तक में विस्तार के अभाव में व्यापकता का समावेश सम्भव नहीं है, परन्तु उसकी एकाग्रता सहज ही तीव्रता की सृष्टि कर सकती है। और काव्य के लिए व्यापकता की अपेक्षा तीव्रता का मूल्य कम नहीं है। व्यापक जीवन का विस्तार यदि भव्य है तो स्पन्दित क्षणों की तीव्रता भी कम प्रभावपूर्ण नहीं है। कर्म का गौरव है और भाव का भी। वनस्थली की अपनी शोभा है, और पुष्प-स्तवक की अपनी। नैषध और अमरुक, रामचरित मानस और विनय-पत्रिका, पद्मावत और मीरा की पदावली, रामचन्द्रिका और बिहारी-सतसई, मेघनाद-वध और गीताञ्जलि, साकेत और नीरजा का सापेक्षिक मूल्य उनकी निबद्धता और अनिबद्धता के आधार पर आँकना अनुचित होगा।

वामन की तीसरी मान्यता—काव्य में नाटक की श्रेष्ठता—संस्कृत काव्य-शास्त्र की अत्यन्त प्रचलित धारणा है : काव्येषु नाटकं रम्यम् । इसका

उद्गम कदाचित् भरत का नाट्य शास्त्र ही है। यह स्थापना भी अधिक मौलिक नहीं है—क्योंकि नाटक में नृत्य, गीत, रंग-शोभा आदि अनेक विशेषताओं का समावेश उसको अधिक मनोरंजक अवश्य बना सकता है—परन्तु मनोरंजन तो काव्य का मूल प्रयोजन नहीं है। ये बाह्य विशेषताएं काव्य के मूल तत्व नहीं हैं—इनका सम्बन्ध काव्य के माध्यम से है आत्मा से नहीं है—माध्यम का उपकार करते हुए ये आत्मा का भी उपकार करते हैं, यह दूसरी बात है : परन्तु ये काव्य के नित्य और अन्तरंग धर्म नहीं है। रंग-कला एक पृथक् कला ही है। वास्तव में नाटक, प्रबन्ध, मुक्तक, कथा आदि माध्यम के रूप अथवा प्रकार मात्र हैं—उनके आधार पर काव्य का मूल्यांकन विश्वसनीय नहीं हो सकता।

वामन की उपर्युक्त मान्यताओं का विवेचन करने के उपरान्त फिर यही निष्कर्ष निकलता है कि वे उनके उसी बाह्यार्थदर्शी वस्तु-परक दृष्टिकोण का परिणाम है जो मूलतः रचना को ही कवित्व मान कर चला है।

आलोचना शक्ति

मौलिकता :—वामन की प्रतिभा अत्यन्त मौलिक है। उन्होंने महत्त्वपूर्ण मौलिक उद्भावनायें की हैं : जहां उन्होंने कुछ पूर्ववर्ती आचार्यों की उद्भावनाओं का उपयोग किया है—वहां भी अपनी मौलिकता की छाप लगा दी है। उन्होंने कहीं भी पुनरावृत्ति नहीं की—जिन विषयों पर उन्हें कोई मौलिक बात नहीं कहनी होती, उनको वे यह कहकर छोड़ देते हैं : “ये प्रसिद्ध ही हैं, अतएव इनके लक्षण नहीं करते।”.....इनका ज्ञान दूसरे ग्रन्थों से प्राप्त कर लेना चाहिए।” उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण स्थापना है—रीतिरात्मा काव्यस्य। रीति (और गुण) का विवेचन भामह, दण्डी ने और उनसे पूर्व भरत आदि ने भी किया है, परन्तु उसको काव्य की आत्मा किसीने नहीं माना। रीति और गुण के विवेचन में भी वामन भरत, भामह और दण्डी पर आश्रित नहीं रहे। दण्डी ने रीति के लिए मार्ग शब्द का प्रयोग किया है और केवल दो रीतियां ही मानी हैं वैदर्भी और गौड़ीया। वामन ने पांचाली नाम की तीसरी रीति का उद्भावना और की है। विवेचन भी वामन का भिन्न है। दण्डी के गौड़ीय मार्ग की अपेक्षा वामन की गौड़ीया रीति की स्थिति अधिक संतोषप्रद है। दण्डी की अपेक्षा वामन की रीति में प्रादेशिकता कम है—

साहित्यिकता अधिक है। इस प्रकार वामन ने रीति-विवेचन को सर्वथा व्यवस्थित कर दिया है—प्रत्येक रीति को विशिष्ट सीमा और उसका सापेक्षिक साहित्यिक महत्त्व निर्धारित कर दिया गया है। साथही उन्होंने रीति का गुण के साथ नित्य और अनिवार्य संबंध स्थापित कर उस आधार को अत्यन्त पुष्ट कर दिया है। मूलतः (पद) रचना होती हुई भी वामन की रीति अपनी परिधि में शब्द-चमत्कार, अलंकार-सम्पदा, तथा अर्थ-स्वारस्य का भी समावेश कर लेती है : इस प्रकार उन्होंने अपनी रीति को शब्द-सौंदर्य, उक्ति-सौंदर्य, और अर्थ-सौंदर्य का संयुक्त पर्याय बनाने का प्रयत्न किया है। वामन की मौलिक प्रतिभा का यह सबसे ज्वलंत प्रमाण है।

गुण के विवेचन में भी वामन का मौलिक योग अत्यंत स्पष्ट है। शब्दगुण और अर्थगुण की पृथक् कल्पना उनकी अपनी उद्भावना है। इसके अतिरिक्त गुणों की परिभाषाएं भी प्रायः उनकी अपनी हैं—भरत और दण्डी के लक्षण उन्होंने प्रायः स्वीकार नहीं किए। उन्होंने अर्थगुण के अन्तर्गत अर्थ की प्रांदि, उक्ति-वैचित्र्य (कल्पनात्मक अभिव्यंजना) तथा रस-दीप्ति का भी समावेश कर गुणों का स्वरूप अधिक समृद्ध और व्यापक कर दिया है।

उधर गुण और अलंकार का भेद सबसे पहले वामन ने ही स्पष्ट किया है—दण्डी ने काव्य-चमत्कार के सभी रूपों को अलंकार कहा है : उनके अनुसार माधुर्य, ओज आदि गुण भी काव्य के शोभाकारक होने के कारण अलंकार हैं—और उपमा रूपकादि अप्रस्तुत-विधान भी। वामन ने अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में इनका अन्तर स्पष्ट किया है। भरत, भामह तथा दण्डी ने और बाद में अन्य प्रमुख आचार्यों ने दोषों को भावात्मक माना है, भरत ने तो गुणों को ही उनका विपर्यय सिद्ध किया है। वामन ने इनके विपरीत गुणों को भावात्मक और दोषों को उनका विपर्यय माना है।

अलंकार प्रसंग में वामन का वैशिष्ट्य मूलतः दो उद्भावनाओं पर आधारित है : एक तो उन्होंने उपमा को मूल अलंकार माना है। भामह आदि ने भी उपमा को प्रमुखता दी है—और उसे सादृश्य-मूलक अलंकारों का मूल आधार भी माना है। परन्तु वामन ने तो उपमा को सभी अलंकारों का ही मूल मान लिया है और समस्त अप्रस्तुत-विधान का उपमा-प्रपंच के रूप में वर्णन किया है।

उधर भामह की वक्रोक्ति को वामन ने अर्थालंकार मानकर उसका लक्षण किया है : जहां लक्षणा सादृश्य-गर्भा हो वहां वक्रोक्ति होती है। वक्रोक्ति

के सम्बन्ध में तो यह कोई महत्वपूर्ण उद्गावना नहीं हुई, परन्तु वामन का यह लक्षण आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त की पूर्व-सूचना अवश्य सिद्ध हुआ। उधर रस के विषय में भी वामन ने कान्तिगुण के विवेचन में प्रकारान्तर से सफल संकेत किया है—उन्होंने रस को कान्ति का आधार मान कर उसे काव्य के अन्तरंग तत्वों में स्थान दिया है। इस प्रकार वामन ने प्रधानतः बोधार्थ-निरूपण करते हुए भी रस और ध्वनि के सम्बन्ध में सफल पूर्व-संकेत किये हैं। यह उनकी व्यापक दृष्टि का प्रमाण है।

प्रामाणिकता :—मौलिकता का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पोषक अंग है प्रामाणिकता। कोई भी मौलिक उद्गावना तब तक मान्य नहीं हो सकती जब तक तर्क का प्रमाण उसे प्राप्त न हो। इतिहास साक्षी है कि वामन के आधार-भूत सिद्धान्त मान्य नहीं हुए—आज उनके रीति-सिद्धान्त का ऐतिहासिक महत्व ही अधिक रहा है—और उनकी आत्मभूत रीति को अन्त में अंग-संस्थान का ही पद मिला। परन्तु रीति के विवेचन में वामन का मत ही सर्वमान्य हुआ। वामन से पूर्व और वामन के पश्चात् भी अनेक आचार्यों ने रीति का विवेचन किया—नवीन रीतियों की उद्गावना हुई, भिन्न भिन्न प्रकार से लक्षण किए गए, परन्तु अन्त में वामन की संख्या और प्रायः वामन की ही परिभाषाएं मान्य हुई।

गुणों के क्षेत्र में वामन की मौलिकता अपुष्ट ही रही। पहले तो उनकी अर्थगुण और शब्दगुण की पार्थक्य-कल्पना ही अधिक संगत नहीं है—दोनों के लक्षणों के साथ मनमानी कर के भी वामन उनका संक्रमण नहीं बचा सके—उदाहरण के लिए अर्थ-व्यक्ति को शब्दगुण मानकर वे अपने ही वाग्जाल में उलझ गए हैं : जिसका नाम ही अर्थव्यक्ति है, वह शब्द-गुण कैसे हो सकता है ? उनके शब्दगुण माधुर्य और शब्दगुण प्रसाद में कोई स्पष्ट पार्थक्य नहीं है—वास्तव में उनके शब्दगुण प्रसाद का लक्षण ही असंगत है। इसका परिज्ञान उन्हें है, और उन्होंने शंका उठा कर उसका समाधान करने का प्रयत्न भी किया है : उनके अनुसार शब्दगुण प्रसाद की आधारभूत विशेषता शिथिल पद-रचना है। अपने आप में यह विशेषता एक दोष है। परन्तु ओज के साथ प्रयुक्त होकर उसकी सघनता में लोच पैदा करके यह निश्चय ही गुण बन जाती है। अपने प्रतिपादन में वामन निर्भ्रान्त हैं, परन्तु फिर भी उनका लक्षण—और लक्षण से भी अधिक यह वर्गीकरण असंगत है, और अनावश्यक भी। समाधि के विषय में भी यही कहा जा सकता है। इस प्रसंग में

वामन के विरुद्ध सबसे प्रबल आक्षेप यह है कि यदि उन्होंने गुण का शब्द और अर्थ के आधार पर विभाजन किया भी है तो एक नाम के शब्दगुण और अर्थगुण में एकसूत्रता रहनी चाहिए थी क्योंकि गुण तो वही है—शब्द और अर्थ के आधार पर उसमें भेद हो गया है। परन्तु वामन ने यहाँ भी पूर्णतुल्य-स्वैच्छाचारिता बरती है। उनके समाधि, माधुर्य, उदारता आदि शब्द-अर्थ-गुणों में कोई सम्बन्ध नहीं है। इस असंगति ने वामन के विवेचन को और भी अप्राप्त बना दिया है।

अलंकार के क्षेत्र में वामन का सबसे महत्वपूर्ण योग है गुणालंकार-भेद-निरूपण—उसकी प्रामाणिकता आज भी असन्दिग्ध है। इसके अतिरिक्त उनकी अन्य उद्भावनाएं मान्य नहीं हुईं क्योंकि उनका आधार पुष्ट नहीं था। उदाहरण के लिए उनकी यह स्थापना ग्राह्य नहीं हो सकी कि अलंकारों का मूल उपमा है। भामह ने जहाँ वक्रोक्ति को, और दण्डी ने अतिशय को अलंकार का मूल माना है, वहाँ वामन ने उपमा को आधार माना है। भामह और दण्डी के वक्रता और अतिशय दोनों में मौलिक अंतर नहीं है—दोनों का अर्थ है लोकाक्रान्तगोचरता—अर्थात् असाधारणता—विचित्रता, चमत्कार। वामन इससे भिन्न औपम्य या साम्य को अलंकार का आधार मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अलंकार-विधान में साम्य (सादृश्य और साधर्म्य) का बड़ा महत्व है, और अनेक अलंकार स्पष्टतः साम्यमूलक ही हैं; इसके अतिरिक्त अलंकारिक साम्य अतिशय तथा वक्रता से भी असम्बद्ध नहीं है क्यों कि अलंकारिक साम्य अनिवार्यतः चमत्कार-मूलक (असाधारण) और प्रायः सदा ही अतिशय-मूलक भी होता ही है। परन्तु फिर भी उसे अलंकार का आधार नहीं माना जा सकता क्योंकि सभी प्रकार का अलंकारिक चमत्कार साम्य-मूलक नहीं होता। वास्तव में जैसा कि मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है अलंकार-विधान के मूल में एक निश्चित मनोवैज्ञानिक आधार रहता है और भिन्न भिन्न अलंकार-वर्गों के पीछे हमारी विभिन्न प्रवृत्तियों की प्रेरणा रहती है। जहाँ हमें अपनी भावना को स्पष्ट करना होता है—वहाँ हम सादृश्य-मूलक अलंकारों का प्रयोग करते हैं। कौतूहल आदि वृत्तियों के परितोष के लिए, मानसिक सामंजस्य के लिए, अथवा उत्तेजना की अवस्था में सादृश्यमूलक अलंकारों का विशेष उपयोग नहीं रहता। उक्ति-चमत्कार के अनेक रूप ऐसे हैं जिनका सादृश्य से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। ऐसी स्थिति में उपमा को अलंकारों का मूल मानना अधिक संगत नहीं है।

व्याख्यान-विवेचन :—वामन ने (मानों अपने वैशिष्ट्य का निर्वाह करने के लिए) व्याख्यान के लिए काव्य-शास्त्र में प्रचलित कारिका-वृत्ति शैली के स्थान पर दर्शन-शास्त्र की सूत्र-वृत्ति शैली का उपयोग किया है। पहले तो वामन के सूत्र ही अपने आप में अत्यंत स्पष्ट हैं—फिर उन पर वृत्ति देकर उनको और भी स्पष्ट कर दिया गया है। जहां कहीं शंका या विवाद के लिए अवकाश रहा है वहां लेखक ने स्वयं अपनी ओर से ही शंका उठा कर उसका समाधान कर दिया है। इसमें संदेह नहीं कि वामन की स्थापनाएं तर्क-संगत सिद्ध नहीं हुईं—उनके भेद-प्रभेद, वर्ग-विभाजन आदि भी अनेक स्थानों पर असंगत हैं। परन्तु वे असंगत ही हैं—अस्पष्ट नहीं हैं : वामन का तर्क भ्रान्त हो सकता है—परन्तु अपने मंतव्य के विषय में उन्हें कोई भ्रान्ति नहीं है। उनकी दृष्टि पैनी है और सूक्ष्मताओं को सफ़ाई से पकड़ती है। सिद्धान्त रूप में, प्रायः हम उनसे असहमत रहते हैं, परन्तु हम पर इस बात का प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता है कि यह व्यक्ति चाहे ठीक बात न भी कर रहा हो, परन्तु अपने मन में निश्चिन्त अवश्य है। इसीलिए वे तर्क से बचने का प्रयत्न नहीं करते, वरन् आत्मविश्वास के साथ स्वयं प्रतिवाद की कल्पना करते हुए उसका निराकरण करते हैं। वामन की शैली सीधी और स्वच्छ है, उसमें घुमाव और उलझन नहीं है—वे कभी भटकते नहीं हैं, अपने प्रतिपाद्य विषय पर सीधा आघात करते हैं।

मूल्यांकन :—भारतीय वाङ्मय के इतिहास में वामन की गणना शास्त्रकारों में है। काव्य-शास्त्र में उनका नाम प्रवर्तक आचार्यों में है : उनके गौरव का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनका रीति-सिद्धान्त एक स्फुट सिद्धांत न रहकर सम्प्रदाय बन गया। उनका घोर विरोध हुआ—उनका सिद्धांत अंत में अमान्य घोषित कर दिया गया, और तत्त्व दृष्टि से यह उचित ही हुआ। फिर भी उनका ऐतिहासिक महत्त्व अक्षुण्ण है। इसके मूलतः दो आधार हैं : एक तो सबसे पहले वामन ने काव्य की आत्मा का अनुसंधान करने का प्रयत्न करते हुए काव्य के मूल और गौण तत्वों का पार्थक्य स्पष्ट किया, और इस प्रकार एक मूल आधार स्थिर कर काव्य-शास्त्र में निश्चित सिद्धान्त-व्यवस्था स्थापित की। भरत, भामह और दण्डी में इस प्रकार की नियमित व्यवस्था का अभाव है। दूसरा आधार यह है कि काव्य के बाह्याङ्ग को प्रमुखता देकर उन्होंने मान्य सिद्धान्त के विपक्ष को प्रबल शब्दों में उपस्थित किया और इस प्रकार जीवन के प्रति अनात्मवादी दृष्टिकोण का काव्य के क्षेत्र में आरोपण

किया । मेधा की प्रखरता और मौलिकता की दृष्टि से वामन का स्थान किसी से निम्नतर नहीं है : इस दृष्टि से उनका स्थान भरत, भामह, आनन्दवर्धन, कुन्तक और जगन्नाथ के समकक्ष है ।

रीति सिद्धान्त

पूर्ववृत्त :—यद्यपि रीति सम्प्रदाय की स्थापना तो नवीं शताब्दी के मध्य में या उसके आसपास आचार्य वामन द्वारा हुई तथापि रीति का अस्तित्व उनसे पहले भी निश्चित रूप से विद्यमान था इसमें संदेह नहीं। भरत का नाट्यशास्त्र भारतीय काव्य-शास्त्र का मूल-ग्रन्थ इसलिए भी है कि उसमें प्रायः काव्य के सभी प्रमुख अंगों के संकेत मिल जाते हैं। रीति का प्रत्यक्ष विवेचन भरत ने नहीं किया परन्तु उन्होंने भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित चार प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है : भारत के पश्चिम भाग की प्रवृत्ति—आवन्ती, दक्षिण भारत की प्रवृत्ति—दाक्षिणात्य, उड़ु अर्थात् उड़ीसा तथा मगध, दूसरे शब्दों में पूर्व भारत की प्रवृत्ति उड़ुमागधी, और पांचाल अर्थात् मध्यदेश की पाञ्चाली।

चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।

आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चौड़ामागधी ॥

नाट्य शा० १४।३६

भरत के अनुसार 'जो पृथ्वी के नाना देशों के वेश, भाषा तथा आचार की वार्ता को व्यक्त करे उसका नाम प्रवृत्ति है—पृथिव्यां नानादेशवेशभाषाचारवार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः,' उक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि उनकी प्रवृत्ति का सम्बन्ध केवल भाषा से ही न होकर देश तथा आचार आदि से भी है—अतः स्वभावतः ही उसकी परिधि रीति को अपेक्षा अधिक व्यापक है। अपने पारिभाषिक रूप में रीति का अर्थ है केवल भाषा-प्रयोग—अर्थात् बोलने और लिखने का ढंग—भरत की प्रवृत्ति का अर्थ है जीवन-चर्या—रहन-सहन का ढंग। फिर भी भरत

की व्याख्या से स्पष्ट है कि प्रदेश-भेद से आचार-व्यवहार और भाषा-प्रयोग आदि की सामान्य विशेषताएं उनके समय में, ऐसा प्रतीत होता है कि उनसे पहले भी, लोक में रूढ़ हो चुकी थीं और रीतियों के उद्भव और विकास में प्रवृत्ति से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में प्रेरणा ग्रहण की गई है—इसमें संदेह नहीं। वामन ने अपनी तीसरी रीथि पाञ्चाली का संकेत शायद यहीं से ग्रहण किया है।

भरत के उपरान्त कादम्बरी के प्रसिद्ध रचयिता बाण भट्ट ने इस प्रसंग का उल्लेख किया है। बाण भट्ट ने हर्षचरित के आरम्भ में लिखा है :

श्लेष प्रायमुदीच्येषु, प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ॥

उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु, गौडेष्वक्षरडम्बरः ॥

उदीच्य—अर्थात् उत्तर भारत के लोग प्रायः श्लेष का प्रयोग करते हैं, प्रतीच्य—अर्थात् पश्चिम भारत के कवि वाणी-विलास की उपेक्षा कर केवल अर्थ-गौरव को ही महत्त्व देते हैं, दाक्षिणात्य उत्प्रेक्षा के प्रेमी हैं, और गौड़ या पूर्व भारत के कविजन अक्षरडम्बर पर मुग्ध हैं।—हर्षचरित प्रस्तावना, उच्छ्वास १, श्लोक ७।

जैसा कि पं० बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—इस उल्लेख से स्पष्ट है कि 'बाण के समय में (सातवीं शताब्दी में) भारतवर्ष की चार दिशाओं में चार प्रकार की शैलियां वर्तमान थीं। परन्तु बाण भट्ट की अपनी सम्मति यह है कि इन चारों शैलियों का एकत्र उपयोग ही किसी काव्य को श्रेष्ठ बनाने में समर्थ होता है।'—

नवोऽर्थो, जातिरग्राम्या, श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः

विकटाक्षरबन्धश्च, कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥

अर्थात् नवीन भाव-सौन्दर्य, अग्राम्या जाति (स्वभाव-वर्णन), अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रस और विकट (जिसमें पद नृत्य सा करते हों) अक्षर-बन्ध : इन सबका एकत्र मिलना दुर्लभ है।—परन्तु काव्य की कसौटी भी यही है।

बाण के उल्लेखों से दो निष्कर्ष निकलते हैं :

(१) भरत के प्रादेशिक विभाजन का आधार जहां व्यापक रूप से जीवनचर्या था—भाषा-प्रयोग उसका एक अंग मात्र था, जहां बाण काव्य-शैली को ही आधार मानते थे।

(२) बाण ने रीतियों का उल्लेख न कर उनके मूल तत्वों को विभाजक आधार माना है : ये विभाजक तत्व हैं गुण और अलंकार । इस प्रकार बाण के समय में रीतियों का नामकरण तो नहीं हुआ था—परन्तु रीति और गुणालंकार का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था ।

(३) उस समय काव्य-शैली का आधार प्रादेशिक ही था—भारत के विभिन्न भागों के साथ विभिन्न काव्य-शैलियां सम्बद्ध थीं ।

(४) बाण स्वयं इस प्रकार के वर्गीकरण को विशेष महत्व नहीं देते थे—वे उपर्युक्त सभी विशेषताओं को काव्य के लिए उपयोगी स्वीकार करते हुए यह मानने को तैयार नहीं थे कि ये किसी प्रकार की प्रादेशिक सीमाओं से बद्ध हैं । काव्यगुण सभी के लिए समान रूप से काम्य होने चाहिए ।

बाण भट्ट के उपरान्त भामह ने स्पष्टतः सिद्धान्त रूप से रीतियों की चर्चा की है । उन्होंने वैदर्भ और गौड़ के लिए—अर्थात् रीति के अर्थ में, काव्य शब्द का प्रयोग किया है : काव्य के भेदों के अन्तर्गत ही वैदर्भ और गौड़ की चर्चा है । उनका विवेचन इस प्रकार है :—

दूसरे विद्वान मानते हैं कि वैदर्भ और है, वही सुन्दर अर्थ वाला और अच्छा होता है ।

(परन्तु) वैदर्भ ही गौड़ीय है, इन्हें पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं । निर्बुद्धि लोगों की दृष्टि में गतानुगतिकतावश ये पृथक् नाम हैं । पुष्ट अर्थ और वक्रोक्ति से ही हीन, प्रसन्न (प्रसाद-गुण-युक्त) सरल और कोमल (शुद्ध काव्य से) भिन्न वैदर्भी, गीत की भाँति केवल श्रुति-मधुर ही होती है । अलङ्कारयुक्त, अप्राप्त्य, अर्थवान्, न्याय (लोक-शास्त्र) सम्मत, अनाकुल (जटिलता और निविदतादि दोषों से मुक्त) गौड़ीय मार्ग भी श्रेष्ठ है—अन्यथा, अर्थात् इन गुणों से हीन, वैदर्भ भी श्रेष्ठ नहीं है ।

गुणों को उन्होंने स्वतन्त्र रूप से विवेचना की है—वैदर्भ और गौड़ीय काव्यों (रीतियों) से उनका कोई मौलिक सम्बन्ध नहीं माना—वे तो सत्काव्य के ही गुण हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि—

(१) भामह के समय में केवल दो प्रमुख मार्ग प्रचलित थे : वैदर्भ और गौड़ जो भरत की दाक्षिणात्य और उडुमागधी प्रवृत्तियों के—और बाण

की दाक्षिणात्य और गौड़ काव्य-शैलियों के समकक्ष थे। भरत की आवन्ती तथा पांचाली प्रवृत्तियाँ और उधर बाण के उदीच्य और प्रतीच्य मार्ग अब प्रसिद्ध नहीं रह गए थे।

(२) वैदर्भ और गौड़ीय में लोक-रूढ़ि वैदर्भ को श्रेष्ठ और गौड़ीय और निकृष्ट मानती थी।

(३) भामह इस तारतम्य को तो मानते ही नहीं—गौड़ीय और वैदर्भ के पार्थक्य को भी अनावश्यक या अधिक से अधिक औपचारिक मानते हैं। वैदर्भ को अपने आप में श्रेष्ठ और गौड़ीय को अपने आप में निकृष्ट मानना अन्ध गतानुगतिकता है।

(४) प्रादेशिक आधार पर विदर्भ देश के वैदर्भों में प्रचलित काव्य-शैली को यदि औपचारिक रूप से पृथक् माना जाय तो भी वह काव्य की आदर्श शैली नहीं है। जैसा कि भरत ने लिखा है दाक्षिणात्य विदर्भ लोग कला-रसिक और सुकुमार-स्वभाव होते हैं—निदान उनकी शैली में अर्थ-गौरव और विदग्ध अभिव्यञ्जना का सौन्दर्य नहीं होता—प्रसादगुण और श्रुतिमाधुर्य आदि संगीत कला के गुण ही होते हैं। अतएव वह काव्य के लिए कोई आदर्श शैली नहीं मानी जा सकती।

(५) भामह के अनुसार काव्य के सामान्य गुण हैं अलङ्कृति, अग्रा-स्यता, अर्थ सौन्दर्य, लोक-शास्त्र का आनुकूल्य, अनाकुलता अर्थात् निविडता और जटिलता का अभाव। इनका अभाव काव्य का दारिद्र्य और सद्भाव काव्य की समृद्धि है। वैदर्भ और गौड़ीय मार्ग अपने आप में सत्काव्य नहीं हैं : उपर्युक्त गुण समान रूप से दोनों को ही सुशोभित कर सकते हैं।

(६) उन्होंने गुण और रीति का कोई मौखिक सम्बन्ध नहीं माना—माधुर्यादि विदर्भ या गौड़ीय के गुण न होकर सत्काव्य के गुण हैं। इस प्रकार भामह ने लोकरूढ़ि का तो तिरस्कार किया ही उसके साथ ही रीतियों की प्रादेशिकता और उनकी रूढ़ वस्तुपरकता पर भी पहला आघात किया।

भामह के उपरान्त रीति-विवेचन दण्डी ने किया। वास्तव में दण्डी ने संस्कृत काव्य-शास्त्र के इतिहास में पहली बार रीति को गौरव दिया और उसका इतने मनोनिवेश के साथ विवेचन किया कि कतिपय विद्वान् उन्हें रीतिवादी ही मानते हैं। दण्डी ने रीति के लिए मार्ग शब्द का प्रयोग करते

हुए चार श्लोकों में उसका निरूपण किया है :^१ वाणी के अनेक मार्ग हैं जिनमें परस्पर अत्यन्त सूक्ष्म भेद हैं । इनमें से वैदर्भ और गौड़ीय मार्गों का, जिनका पारस्परिक भेद अत्यन्त स्पष्ट है, अब वर्णन किया जाएगा । श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि—ये दश गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं । गौड़ मार्ग में प्रायः इनका विपर्यय लक्षित होता है । + + + + इस प्रकार प्रत्येक का स्वरूप-निरूपण कर इन दोनों मार्गों का अन्तर स्पष्ट कर दिया है । किन्तु जहां तक प्रत्येक कवि में स्थित (प्रत्येक कवि की अपनी प्रकृति के अनुसार) इनके भेदों का सम्बन्ध है, उनका वर्णन सम्भव नहीं है ।

दण्डी का उपर्युक्त विवेचन संचित होते हुए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है । उनके मन्तव्य का सार इस प्रकार है :

(१) रीति का अस्तित्व सर्वथा वस्तुगत नहीं होता : प्रत्येक कवि की अपनी विशिष्ट रीति होती है—कवि अनेक हैं अतएव रीतियों की संख्या भी अनेक हैं । इस प्रकार दण्डी ने अत्यन्त निःश्रान्त शब्दों में रीति में व्यक्ति-तत्त्व की सत्ता स्वीकार की है ।

(२) सामान्यतः अपनी अत्यन्त पृथक् विशेषताओं के कारण दो मार्ग या रीतियां—वैदर्भ और गौड़ीय दण्डी के समय तक कवियों और काव्य-रसिकों में प्रसिद्ध हो चुके थे । दण्डी ने उनका अस्तित्व तो लोक-परम्परा के अनुसार निश्चयरूप से स्वीकार किया है, परन्तु उनको निरपेक्ष नहीं माना है ।

१ अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।
तत्र वैदर्भगौड़ीयौ वर्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥ ४० ॥
श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ॥ ४१ ॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः ।
एषां विपर्ययः प्रायो लक्ष्यते गौड़वर्त्मनि ॥ ४२ ॥

+ + + +

इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात् ।
तद्भेदेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः ॥ १०१ ॥

(प्र० परिच्छेद—काव्यादर्श)

(३) दण्डी ने सबसे प्रथम रीति और गुण का सम्बन्ध स्थापित किया है—बाण भट्ट ने जिसका संकेत मात्र किया था—दण्डी ने उसे नियम-बद्ध कर दिया ।

(४) भरत ने श्लेष, प्रसाद आदि को काव्य-गुण माना है, परन्तु दण्डी ने उन्हें वैदर्भ मार्ग के गुण माना है । इसका अभिप्राय कदाचित् यह है कि वे वैदर्भ मार्ग को काव्य के लिए आदर्श मानते हैं—अथवा वैदर्भ काव्य और सत्काव्य को अभिन्न मानते हैं ।

(५) गौडीय मार्ग में दण्डी के अनुसार उपर्युक्त गुणों का प्रायः विपर्यय रहता है । प्रायः का अभिप्राय यह है कि उनमें से (१) अर्थव्यक्ति—अर्थात् अर्थ की स्फुट प्रतीति कराने की शक्ति, (२) औदार्य—अर्थात् प्रतिपाद्य अर्थ में उत्कर्ष का समावेश, और (३) समाधि—अर्थात् एक वस्तु के धर्म का दूसरी वस्तु में सम्यक् रीति से आधान—लाक्षणिक और औपचारिक प्रयोग शक्ति—ये तीन गुण दोनों में समान हैं । इसका तात्पर्य यह हुआ कि इन तीन गुणों को दण्डी काव्य के लिए अनिवार्य मानते हैं—क्योंकि अर्थ-व्यक्तिहीन काव्य हृदयंगम नहीं हो सकता, औदार्य-रहित होकर वह इतिवृत्त कथन रह जाता है और समाधि को तो दण्डी ने स्पष्ट शब्दों में 'काव्य-सर्वस्व' माना ही है ।—इन तीन गुणों के अतिरिक्त शेष सात गुणों का विपर्यय गौडीय मार्ग का आधार है ।

संस्कृत के विद्वानों में दण्डी के 'एषां विपर्ययः—इनका विपर्यय' इन दो शब्दों को लेकर बड़ा विवाद चला है । कुछ विद्वान एषां (इनके) का अर्थ करते हैं दशगुणों का, और विपर्यय का अर्थ करते हैं वैपरीत्य । दूसरे विद्वान एषां का सम्बन्ध प्राणाः—मूलतत्त्व—से स्थापित करते हैं और विपर्यय का अर्थ करते हैं अन्यथात्व; इस प्रकार उनके अनुसार दण्डी का आशय है : श्लेषादि वैदर्भ मार्ग के मूल तत्त्व हैं ; गौडीय मार्ग के मूलतत्त्व इनसे अन्यथा है । विद्वानों का एक तीसरा वर्ग इन दोनों से भिन्न अर्थ करता है—वे एषां को तो गुणों का ही वाचक मानते हैं, परन्तु विपर्यय का अर्थ अन्यथात्व करते हैं । इसका अभिप्राय यह हुआ कि गौडीय मार्ग में श्लेषादि दश गुणों का अन्यथा रूप मिलता है ।

अब उपर्युक्त आख्यानो की परीक्षा कीजिए । पहले आख्यान के विरुद्ध यह आक्षेप है कि जब उपर्युक्त दश गुण सौन्दर्य-बोधक हैं तो इनके विपरीत

रूप कुरूपता-बोधक हुए अर्थात् दोष हुए। गौड़ीय मार्ग के मूलतत्त्व यदि कुरूपता-बोधक दोष हैं—तो फिर उसे काव्य-मार्ग कैसे माना जा सकता है ? और वास्तव में दण्डी ने गौड़ीय मार्ग के प्रसंग में जितने उदाहरण दिए हैं वे कुकाव्य के उदाहरण नहीं हैं। इस आक्षेप का उत्तर दिया जा सकता है : दण्डी ने गुण के विपर्यय को दोष नहीं माना है—व्युत्पन्नता, दीप्ति और अत्युक्ति तो दोष हैं ही नहीं—शैथिल्य और वैषम्य को भी निरपेक्ष रूप से दोष नहीं माना जा सकता। वामन ने तो बन्ध-शैथिल्य को शब्द-गुण माना ही है। उनके उपरान्त इसी सत्य का उद्घाटन आनन्दवर्धन ने और भी स्पष्ट शब्दों में किया है। पद-रचना का कोई रूप—समस्त अथवा असमस्त पद, गाढ़ अथवा स्फुट बन्ध अपने आप में न काव्य का अपकर्षक है न उत्कर्षक : विषय और भाव के अनुसार ये दोनों ही गुण हो सकते हैं, और दोनों ही दोष। इसलिए श्लेषादि गुणों के विपर्यय—जिनकी स्थिति गौड़ीय मार्ग में मानो गई है—दोष-वाचक नहीं हैं, श्लेषादि के तुल्य उत्कर्षवाचक चाहे न हों।

उपर्युक्त तर्क दूसरे आख्यान की क्लिष्ट कल्पना को अनावश्यक बना देता है। दण्डी ने निश्चय ही वैदर्भ मार्ग को श्रेष्ठ और गौड़ीय को निकृष्ट माना है। इसलिए श्लोक के उत्तरार्ध का यह अर्थ कि गौड़ मार्ग के मूल तत्त्व वैदर्भ के मूल तत्त्वों से केवल भिन्न होते हैं क्लिष्टान्वय होने के अतिरिक्त प्रसंग-विरुद्ध भी है।

तीसरा आख्यान भी हमारे उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में अनावश्यक हो जाता है : जब वैपरीत्य दोष नहीं है तो अन्यथात्व की कल्पना ही क्यों की जाए ? वैसे भी दण्डी के व्युत्पन्न आदि विपर्ययों में वैपरीत्य के साथ साथ चाहे अन्यथात्व भी भले ही हो, परन्तु शैथिल्य और वैषम्य के विषय में तो ऐसी कोई शंका नहीं हो सकती—वे तो निश्चय ही पूर्णतया विपरीत रूप हैं। इसलिए विपर्यय का अर्थ अन्यथात्व करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि दण्डी के पूर्वोद्धृत विपर्ययों में से किसी में भी वैपरीत्य का अभाव नहीं है :—व्युत्पन्न आदि में आंशिक वैपरीत्य है और शैथिल्य आदि में पूर्ण।

निष्कर्ष यह है कि 'एषां' से दण्डी का आशय दश गुणों का और 'विपर्यय' से वैपरीत्य का ही है। दण्डी ने गौड़ मार्ग को हीमतर मानते हुए भी

काव्य-मार्ग ही माना है, अतएव गुणों के विपर्ययों की कल्पना भी काव्य की परिधि के भीतर ही की है : उदाहरण के लिए प्रसाद का विपर्यय 'क्लिष्ट' कान्ति (स्वाभाविक वर्णन) का 'अस्वाभाविकता', और सौकुमार्य (कोमल और निष्ठुर वर्णों का रमणीय मिश्रण) का विपर्यय केवल 'स्त्रैण अथवा श्रुतिकटु वर्णों का प्रयोग' नहीं माना क्योंकि ये सभी विपर्यय काव्य की परिधि से बाहर पड़ जाते। इसके विपरीत उन्होंने काव्य की परिधि के भीतर ही क्रमशः व्युत्पन्न—अर्थात् शास्त्र-ज्ञान पर आश्रित, अत्युक्ति तथा दीप्ति को ही प्रसाद कान्ति और सौकुमार्य का विपर्यय माना है। इसी कारण अर्थव्यक्ति औदार्य और समाधि के विपर्यय दिये ही नहीं गए क्योंकि उनसे काव्य की हानि हो जाती—उन्हें वैदर्भ और गौड़ दोनों के लिए समान रूप से आवश्यक मान लिया गया है।

दण्डी के उपरान्त तो वामन द्वारा रीति सम्प्रदाय की स्थापना हो ही जाती है। उनके विवेचन के फल-स्वरूप रीति का स्वरूप, आधार, क्षेत्र, प्रकार आदि का निर्धारण हो जाता है।

रीति की परिभाषा और स्वरूप

रीति का अर्थ :— रीति शब्द का प्रयोग सबसे पहले वामन ने किया है। जैसा कि भोज ने अपनी परिभाषा में स्पष्ट किया है रीति शब्द रीङ् धातु से बना है—इसका व्युत्पत्ति-अर्थ है गति, मार्ग या प्रस्थान, और रुढ़ अर्थ है पद्धति, विधि आदि। वामन से पूर्व दण्डी ने और वामन के उपरान्त कुन्तक आदि ने रीति के लिए मार्ग शब्द का ही प्रयोग किया है।

परिभाषा :—वामन से पूर्व यद्यपि भामह और दण्डी ने रीति की चर्चा की है, परन्तु उन दोनों में से किसी ने भी रीति का लक्षण या परिभाषा नहीं की। यह कार्य भी सर्व प्रथम वामन ने ही किया। इस प्रकार रीति शब्द के प्रथम प्रयोक्ता, रीति के लक्षणकर्ता, और रीति-सम्प्रदाय के संस्थापक वामन ही हैं। अतएव रीति का स्वरूप समझने के लिए आधार रूप में उनकी ही शब्दावली का आश्रय लेना संगत होगा।

वामन के अनुसार रीति का अर्थ है विशिष्ट पद-रचना—विशिष्ट पद-रचना रीतिः। का० सू० १।२।७। विशिष्ट का अर्थ है गुण-सम्पन्न—विशेषो

गुणात्मा । १॥२॥८ । गुण से तात्पर्य है काव्य-शोभा-कारक (शब्द और अर्थ के) धर्म का ॥ २।२।१॥

इस प्रकार वामन के अनुसार रीति की परिभाषा हुई :—काव्य-शोभा-कारक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त पद-रचना को रीति कहते हैं । यहां ‘काव्य-शोभा-कारक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त’ शब्दावली कुछ बिखरी हुई है । इसमें एक तो ‘काव्य’ शब्द अनावश्यक है क्योंकि यह तो समस्त प्रपंच ही काव्य का है । ‘शोभा-कारक शब्द और अर्थ के धर्म’ का अर्थ हुआ—शब्द और अर्थ-गत सौन्दर्य—या शब्द-चमत्कार तथा अर्थ-चमत्कार । और वामनकृत परिभाषा का रूप हुआ : शब्द तथा अर्थ-गत चमत्कार से युक्त पद-रचना का नाम रीति है । इसको और भी संक्षिप्त किया जा सकता है : ‘शब्द तथा अर्थ-गत सौन्दर्य से युक्त’ के स्थान पर केवल ‘सुन्दर’ का प्रयोग किया जा सकता है । सुन्दर पदरचना या सम्यक् पदरचना का नाम रीति है ।

अतएव वामन के अनुसार “शब्द और अर्थ-गत सौन्दर्य से युक्त पद-रचना का नाम रीति है ।” अथवा “सुन्दर पदरचना का नाम रीति है—यह सौन्दर्य शब्द-गत तथा अर्थगत होता है ।”

वामन के उपरान्त अन्य आचार्यों ने भी रीति का लक्षण—अथवा स्वरूप निरूपण किया है । आनन्दवर्धन ने उसको संघटना नाम दिया है । सम्यक् अर्थात् यथोचित घटना—पदरचना का नाम संघटना अथवा रीति है । आनन्दवर्धन ने वास्तव में वामन की परिभाषा को ही संक्षिप्त कर दिया है । वामन का पद-रचना और आनन्दवर्धन का घटना शब्द तो पर्याय ही हैं : दोनों के विशेषणों में भी कोई मौलिक अन्तर नहीं है । वामन ने पदरचना को शब्द और अर्थ-गत सौन्दर्य से युक्त (गुणात्मक) कहा है, आनन्दवर्धन ने उसके लिए सम्यक् (यथोचित) विशेषण का प्रयोग किया है । आनन्दवर्धन के सामने रस का मानदण्ड था—इसलिए उन्होंने तदनुकूल ‘सम्यक्’—यथोचित शब्द का ही प्रयोग किया क्योंकि रस को प्रमाण मानने के उपरान्त उसके अनुसार औचित्य-निर्धारण सहज हो जाता है । वामन के समक्ष इस प्रकार का मानदण्ड कोई नहीं था—उन्होंने शब्द-अर्थ का ही चरम मान स्वीकार करते हुये शब्द और अर्थगत सौन्दर्य को विशेषण माना है । अतएव आनन्दवर्धन और वामन की परिभाषाओं में मौलिक साम्य होते हुए भी विशेषणों में सूक्ष्म अंतर है । आनन्दवर्धन के सिद्धान्तानुसार रीति रसाश्रयी है, अतएव उन्होंने घटना—या

पदरचना के लिए 'सम्यक्—यथोचित' विशेषण का प्रयोग किया है। वामन की रीति स्वतंत्र है—अतएव उनके मत से पदरचना का वैशिष्ट्य अपने शब्द और अर्थगत सौन्दर्य से अभिन्न है।

आनन्दवर्धन की रीति रस-रूप सौन्दर्य की साधन है : “व्यनक्ति सा रसादीन्” (ध्व० ३,१),—वामन की रीति अपने आप में सिद्धि है।

आनन्द ने अपने मत का व्याख्यान करते हुए आगे लिखा है : संघटना तीन प्रकार की कही गई है—असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा। ३, ५॥^१ वह माधुर्यादि गुणों के आश्रय से स्थित रसों को अभिव्यक्त करती है। ३, ६॥^२

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने रीति के सम्बन्ध में तीन बातें कही हैं :—
(१) रीति या संघटना के स्वरूप का आधार केवल समास है : उसी का आकार अथवा सद्भाव-अभाव रीतियों के विभाजन का आधार है। अर्थात् मूर्तरूप में रीति का स्वरूप-निर्धारण समास की स्थिति अथवा आकार द्वारा होता है। (२) रीति की स्थिति गुणों के आश्रय से है—रीति गुणाश्रयी है। (३) वह रसाभिव्यक्ति का माध्यम है।

आनन्दवर्धन के उपरान्त राजशेखर ने रीति का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। उन्होंने रीति की परिभाषा की है : वचन-विन्यास-क्रमो रीतिः अर्थात् वचन-विन्यास का क्रम रीति है। यह परिभाषा वामन की परिभाषा से मूलतः भिन्न नहीं है—केवल शब्दों का अंतर है। वचन का अर्थ है शब्द या पद और विन्यास-क्रम का अर्थ है रचना। राजशेखर ने काव्यपुरुष के रूपक का प्रसंग होने के कारण वाणी से सम्बन्ध रखने वाले शब्द प्रयुक्त किये हैं—लेखन से सम्बद्ध शब्द नहीं। इसीलिए पद अथवा शब्द के स्थान पर वचन और रचना के स्थान पर विन्यास-क्रम का प्रयोग किया गया है।

कुन्तक ने रीति का नाम फिर मार्ग रख दिया और रीति-विषयक विवेचन में क्रान्ति उपस्थित करने का प्रयत्न किया। कुन्तक स्वतंत्र विचारवान् आचार्य थे—उन्होंने काव्य में कवि-स्वभाव को मुख्य मानते हुए उसी के

१ असमासा, समासेन मध्यमेन च भूषिता ।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता ॥३, ५॥

२ गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती, माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा ।
रसान् ३, ६॥

अनुसार मार्ग का निरूपण किया और रीतियों के प्रादेशिक वर्ग-विभाजन का उपहासपूर्वक तिरस्कार किया। कुन्तक ने तदनुसार रीति को कवि-प्रस्थान-हेतु कहा है। अलंकार को हटा कर प्रस्थान-हेतु का सीधा अर्थ है विधि या शैली। कवि शब्द का प्रयोग कर कुन्तक ने इस बात पर बल दिया है कि कवि-प्रस्थान-हेतु—रीति का निर्णायक आधार कवि-स्वभाव हो है।

भोज ने रीति की व्युत्पत्ति-मूलक परिभाषा की है :—

वैदर्भादि कृताः पन्थाः काव्ये मार्गा इति स्मृताः।

रोङ्गताविति घातोस्सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ॥

अर्थात् वैदर्भादि पन्था (पथ) काव्य में मार्ग कहलाते हैं। गत्यर्थक रोङ् घातु से व्युत्पन्न होने के कारण वही रीति कहलाती है। इस प्रकार भोज ने मार्ग, पन्था या पथ, और रीति को व्युत्पत्ति-अर्थ में पर्याय सिद्ध करते हुए तीनों की अभिन्नता प्रतिपादित की है। उनके अनुसार रीति का अर्थ है कवि-गमन-मार्ग जिसे कुन्तक ने कवि-प्रस्थान-हेतु कहा है।

भोज के उपरान्त मम्मट ने रीति की स्वीकृत परिभाषा में थोड़ा संशोधन किया है। उन्होंने उपनागरिका, परुषा और कोमल वृत्तियों का ही विवेचन किया है, परन्तु अन्त में यह स्पष्ट कर दिया है कि इन्हें ही पूर्ववर्ती आचार्यों ने क्रमशः वैदर्भी गौड़ी और पांचाली रीति कहा है।

एतास्तिस्त्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी गौड़ीया पाञ्चालाख्या रीतय उच्यन्ते। का० प्र० ६।४।

मम्मट के अनुसार नियत वर्णों का रसानुकूल व्यापार ही वृत्ति है :

वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः (का० प्र० ६)

इस प्रकार मम्मट के अनुसार—(१) रीति (वृत्ति) नियतवर्णव्यापार है—अर्थात् रीति वर्ण-संगुफन का नाम है और ये वर्ण नियत होते हैं। मम्मट मूलतः समास को रीति का वाहक नहीं मानते, वर्ण-गुम्फ को ही मानते हैं।

(२) परन्तु मम्मट ने वर्ण-गुम्फ का गुण के साथ नियत सम्बन्ध माना है—प्रत्येक गुण के अनुसार ही वर्णों का संगुफन होता है, और उसी (गुण के) अनुसार रीति का स्वरूप भी निश्चित होता है। दूसरे शब्दों में गुण शब्द-गुम्फ और रीति दोनों के ही नियामक होते हैं, और अन्त में उन्हीं के माध्यम

से रीति (वृत्ति) रस की अभिव्यंजना में सहायता देती हुई काव्य में अपनी सार्थकता सिद्ध करती है ।

विश्वनाथ ने मम्मट के वर्ण-व्यापार के साथ-साथ पद-संघटना-अर्थात् शब्द गुम्फ तथा समस्त पदावली का महत्व फिर स्थापित किया और आनन्द-वर्धन से प्रेरणा लेकर रीति का लक्षण इस प्रकार दिया—

पद-संघटना रीतिरंगसंस्था—विशेषवत्—उपकर्त्री रसादीनाम् । अर्थात् पदों की संघटना का नाम रीति है—वह अंगसंस्थान (शरीर-गठन) की भाँति है—और काव्य के आत्मरूप रसादि का उत्कर्ष-वर्धन करती है । जिस प्रकार शरीर की गठन बाह्य होती हुई भी मनुष्य के आंतरिक व्यक्तित्व—आत्मा—का उत्कर्ष-वर्धन करती है इसी प्रकार सम्यक् पद-संघटना बाह्य अवयव होती हुई भी काव्यात्मभूत रस का उपकार करती है ।

अन्त में उपर्युक्त विवेचन से एक तथ्य स्पष्टरूप से हमारे सामने आता है : यद्यपि रीति के महत्व में आकाश-पाताल का अन्तर हो गया—वह आत्म पद से अष्ट होकर अंग-संस्थान मात्र रह गई, तथापि उसकी परिभाषा में कोई मौलिक अन्तर नहीं हुआ । वामन की विशिष्ट पद-रचना ही रीति की सर्व-मान्य परिभाषा रही—यह विशिष्टता भी प्रायः शब्द और अर्थ के चमत्कार पर आश्रित मानी गई, और वामन के निर्देशानुसार गुणों के साथ भी रीति का नित्य सम्बन्ध रहा । अन्तर केवल यह हुआ कि वामन ने जहाँ शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्मों के रूप में गुणों को और उनसे अभिन्न रीति को अपने आप में सिद्ध माना, वहाँ आनन्दवर्धन तथा परवर्ती आचार्यों ने गुणों को रस के धर्म माना—और उनके आश्रय से रीति को भी रसाभिव्यक्ति के माध्यम रूप में ही स्वीकार किया । उनके अनुसार रीति शब्द और अर्थ के आश्रित रचना-चमत्कार का नाम है जो माधुर्य, ओज अथवा प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त करती हुई रस-दशा तक पहुँचाने में साधनरूप से सहायक होती है ।

रीति के आधार

वैदर्भी आदि रीतियों के नामकरण विदर्भादि प्रदेशों के नाम पर किये गए हैं । तो क्या रीतियों की विशिष्टता का आधार प्रादेशिक है ? क्या काव्य-

शैली किसी प्रदेश की सीमा में बद्ध हो सकती है ?—यह शंका वामन ने स्वयं उठाई है : “किन्तु क्या भिन्न भिन्न पदार्थों की भौतिक काव्य के गुणों की भी उत्पत्ति पृथक् पृथक् देशों से होती है जो उनका नामकरण देशों के आधार पर किया गया है ?” (का० सू०, २ अध्याय) ।

इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया है और वह बड़ा संगत उत्तर है : “नहीं, ऐसा नहीं है । वैदर्भी आदि रीतियों के नाम विदर्भादि देशों के नाम पर इसलिए रखे गये हैं कि इन देशों में (इन देशों के कवियों के काव्य में) उनका विशेष प्रयोग मिलता है ।

विदर्भ, गौड़ और पांचाल देशों में वहाँ के कवियों ने क्रमशः वैदर्भी, गौड़ीया और पांचाली रीतियों का उनके वास्तविक रूपों में, मुख्यतः प्रयोग किया है । इसलिए इनके नाम विदर्भादि के नामों पर रखे गये हैं, इसलिए नहीं कि इन देशों का उपर्युक्त रीतियों पर कोई विशेष प्रभाव पड़ा है ।” (का० सू०, २ अध्याय)

इसमें संदेह नहीं कि प्रत्येक प्रदेश की अपनी विशेषताएं होती हैं । रहन-सहन अर्थात् वेशभूषा तथा आचार-व्यवहार आदि में तो ये प्रादेशिक विशेषताएं प्रत्यक्ष लक्षित होती हैं, भाषा के क्षेत्र में भी उच्चारण पर इनका प्रभाव अत्यंत स्पष्ट रहता है । परन्तु प्रश्न इन बाह्य विशेषताओं का नहीं है—वेशभूषा, आचार-व्यवहार और उच्चारण आदि बहुत कुछ भौतिक एवं शारीरिक विशेषताएं हैं जो भौगोलिक प्रभावों द्वारा अनुप्रेरित रहती हैं । प्रश्न भाषा-शैली अथवा उससे भी सूक्ष्मतर काव्य-शैली का है ।

वामन का उत्तर स्पष्ट है : (१) रीति अथवा काव्य-शैली द्रव्य के समान जलवायु विशेष की उपज नहीं है । अतएव उसपर देश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

(२) वैदर्भी का नाम विदर्भ देश पर इसलिए रखा गया है कि इस प्रदेश के कवियों ने दश गुणों से अलंकृत इस रीति का उसके वास्तविक रूप में—अर्थात् सर्वांग-सम्पन्न रूप में—मुख्यतः प्रयोग किया है । गौड़ीया और पांचाली का नामकरण भी इसी प्रकार हुआ है ।

वामन के मत से रीतियों की स्वतन्त्र सत्ता है—वे गुणात्मक अर्थात् शब्द और अर्थगत सौन्दर्य के आश्रित हैं । इनमें से एक रीति दशगुण-सम्पन्न

है—शेष दो का सौन्दर्य केवल दो दो गुणों पर आश्रित होने के कारण आंशिक है। एक में ओज और कान्ति का समावेश रहता है और दूसरी में माधुर्य और सौकुमार्य का। पहली अर्थात् समग्रगुणभूषिता रीति का प्रयोग : विदर्भ के कवियों में मुख्यतः मिलता था, इसलिए उसका नाम विदर्भ के नाम पर वैदर्भी रख दिया गया। ओज और कान्तिमती रीति का प्रयोग अपने वास्तविक रूप में मुख्यतया गौड़ देश के कवियों में मिलता था, इसलिए उसका नाम गौड़ीया कर दिया गया, और माधुर्य तथा सौकुमार्य से उपपन्न रीति का प्रचार प्रायः पांचाल देश के कवियों में था, अतएव उसका नामकरण पांचाली कर दिया गया। परन्तु यह संयोग मात्र ही समझना चाहिए—विदर्भ, गौड़ तथा पांचाल प्रदेशों की परम्पराएं ऐसी थीं। यह प्रदेश का प्रभाव नहीं है—ऐसा वामन का मत है। वामन के मत से तत्त्व रूप में रीतियों की सत्ता पहले थी—प्रदेशानुसार नामकरण बाद में हुआ।

इस प्रकार के निरूपण में दो प्रकार की प्रक्रियाओं से काम होता है—एक आगमन प्रक्रिया और दूसरी निगमन प्रक्रिया। प्रस्तुत प्रसंग में वामन के मतानुसार रीतियों का नामकरण निगमन प्रक्रिया से हुआ है। आगमन के अनुसार तो वैदर्भ कवियों की सामान्य काव्य-शैली के विश्लेषण द्वारा वैदर्भी के गुणों का निर्धारण होना चाहिए था। परन्तु यहां गुणों के आधार पर रीतियों का स्वरूप-निर्धारण पहले किया गया है—और देश विशेष के कवियों में उन विशेषताओं को देख कर उनका नामकरण बाद में।

वास्तव में यह वामन की अपनी धारणा है जो उन्होंने अपने सिद्धांत के अनुकूल बना ली है। भरत, बाण, भामह और दण्डी के संकेतों से स्पष्ट है कि आरम्भ में प्रवृत्तियों, रीतियों या मार्गों का वर्गविभाजन प्रदेशानुसार ही हुआ था, परन्तु यह भी ठीक ही है कि स्वतंत्रचेता विद्वान् आरम्भ से ही इस प्रादेशिक विभाजन के प्रति संदेहशील थे—भरत, बाण और दण्डी ने अपनी शंका स्पष्ट रूप से व्यक्त की है और भामह ने तो प्रादेशिक विभाजन और तदाश्रित तारतम्य को अमान्य ही ठहरा दिया है। वामन के समय तक आते आते प्रादेशिक आधार कदाचित् काफ़ी हिल चुका था और इसीलिए उन्होंने तदाश्रित नामकरण को संयोगमात्र घोषित कर दिया। रीति-निरूपण के प्रसंग में इस प्रकार उचित दिशा में एक क़दम और उठाया गया।

अगला सफल पद-न्यास रसध्वनिवादियों ने किया जिन्होंने रीतियों के प्रादेशिक आधार को सर्वथा लुप्त कर विषय, वक्ता, तथा रस को नियामक

आधार माना। गौड़ीया का गौड़ से कोई सम्बन्ध नहीं रहा, वह रौद्रादि रसों और युद्ध आदि के वर्णन के उपयुक्त मानी गयी। इसी प्रकार पांचाली का पांचाल देश के कवियों से कोई सम्बन्ध न रहा—वह शृङ्गार करुणादि रसों और प्रेम तथा शोकादि के प्रसंगों के योग्य ठहरायी गयी।

कुन्तक एक पग और आगे बढ़े। उन्होंने प्रादेशिक नामों का भी त्याग कर दिया। उनका मत है कि कवि-मार्ग अथवा रीति का आधार है कवि का स्वभाव—मातुलेया भगिनी के साथ विवाह-प्रथा की भाँति रीति कोई देश-धर्म नहीं है। + + + यदि किसी देश की जलवायु के साथ काव्य-शैली का सम्बन्ध होता तो उस देश के सभी निवासी उसका प्रयोग करने में समर्थ होते।

न च विशिष्ट-रीति-युक्तत्वेन काव्यकरणं मातुलेया-भगिनि-विवाहवद् देशधर्मतया व्यवस्थापयितुं शक्यम्। (व० जी० पृष्ठ ४५)
+ + + तस्मिन् सति तथाविधकाव्यकरणं सर्वस्य स्यात्। (व० जी० पृ० ४६)

इसीलिए उन्होंने सुकुमार, विचित्र और मध्यम कवि-स्वभाव के अनुसार मार्गों का नामकरण किया—देश के अनुसार नहीं।

इसमें संदेह नहीं कि काव्य शैली का भौगोलिक आधार मानना संगत नहीं है—और न उसे देश-धर्म ही माना जा सकता है, इसमें भी संदेह नहीं कि प्रत्येक कवि की अपने स्वभाव (आज का आलोचक उसे व्यक्तित्व कहना पसन्द करेगा—) के अनुसार अपनी शैली होती है; परन्तु क्या स्थूल रूप से, काव्य-शैली के प्रादेशिक आधार पर वर्ग-भेद करना एकांत अनर्गल है? हमारे देश में अभी राष्ट्रभाषा का देशव्यापी प्रचार नहीं हुआ—इसलिए इस प्रश्न का सीधा व्यावहारिक उत्तर देना कठिन है। पर थोड़ा पीछे मुड़कर अंगरेज़ी की स्थिति पर विचार किया जा सकता है। क्या बंगाली, पंजाबी और दाक्षिणात्य भारतीय की अंगरेज़ी-शैली में—केवल उच्चारण आदि में ही नहीं—स्पष्ट अन्तर नहीं है? और यदि है तो इसे प्रादेशिक प्रभाव किसी न किसी रूप में मानना ही पड़ेगा। इंग्लैंड जैसे छोटे देश में स्कॉच इंगलिश और वेल्श इंगलिश का प्रादेशिक अन्तर आज भी मान्य है। व्यक्ति की दृष्टि से ही लीजिए, रवि बाबू, गांधी जी और डा० राधाकृष्णन की अंगरेज़ी शैलियों का अन्तर क्या केवल वैयक्तिक है : क्या रवीन्द्रनाथ की शैली पर बंगाली

भावोष्णता और गांधी जी की शैली पर गुजराती व्यावहारिक स्पष्टता का प्रभाव नहीं है ? देश के बाहर जाकर तुलना करें तो क्या रवीन्द्रनाथ ठाकुर और विलियम बटलर येट्स की रहस्यवादी कविताओं में शैलीगत अन्तर केवल व्यक्ति-स्वभाव मात्र का अन्तर है—क्या इन दोनों की शैलियों के बीच का अन्तर उतना और वैसा ही है जैसा येट्स और ब्रिजेज़ की शैलियों का अंतर है ? क्या रवीन्द्रनाथ की अंगरेज़ी शैली पर भारतीयता की गहरी छाप नहीं है ? इन प्रश्नों के उत्तर नकार में देना सम्भव नहीं हैं । और, यदि ऐसी स्थिति है तो शैली का प्रादेशिक आधार—चाहे वह कितना ही दूरस्थ और बाह्य-स्थूल क्यों न हो—एकदम अनगल नहीं माना जा सकता है । कुंत्क की स्वभाव-सम्बन्धी स्थापना ठीक ही है—उसमें शंका नहीं की जा सकती—परन्तु स्वभाव अथवा व्यक्तित्व पर भी तो देश काल का अप्रत्यक्ष प्रभाव अस्वीकृत नहीं किया जा सकता ।

यूरोप के साहित्य-शास्त्र में भी कुन्तक का ही मत मान्य है : वहां भी मधुर, उदात्त अथवा कोमल तथा परुष आदि रीतियां ही किसी न किसी रूप में स्वीकार्य हुईं जो कुन्तक के सुकुमार और विचित्र आदि मार्गों की ही समानधर्मा हैं । परन्तु वहां भी देश के आधार पर शैलियों का वर्ग-विभाजन हुआ है (इंसा की पहली शताब्दी के लगभग क्विन्टीलियन ने यूनानी-रोमी काव्य-शैली के तीन भेद किये थे : ऐटिक, एशियाटिक और रोडेशियन । ये शैलियां अपने प्रादेशिक आधार के कारण ही नहीं, वरन् स्वरूप में भी वैदर्भी, गौड़ीया और पांचाली के समस्त थीं ।)

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रादेशिक आधार की कल्पना सर्वथा निराधार नहीं है—उसके पीछे व्यावहारिक तर्क है । परन्तु इस प्रादेशिक आधार को अधिक महत्व नहीं देना चाहिये—मनुष्य का स्वभाव अथवा व्यक्तित्व प्रादेशिकता में आबद्ध नहीं है : कवि का व्यक्तित्व तो वैसे भी असाधारण प्रतिभावान और वैशिष्ट्य-सम्पन्न होता है, अतएव उसके लिए तो प्रादेशिकता का बन्धन और भी दुर्बल पड़ता है ।

रीति के मूल तत्व

रीति का स्वरूप-निरूपण करने के लिए उसके मूल-तत्वों का निर्धारण कर लेना आवश्यक है ।

दण्डी ने गुणों को ही रीति के मूल तत्त्व माना है। उनके गुण शब्द-सौंदर्य और अर्थ-सौंदर्य दोनों के ही प्रतीक हैं। उनके श्लेष, समता, सौकुमार्य और ओज पद-बन्ध अथवा शब्द-गुम्फ के आश्रित हैं, माधुर्य, उदारता, कान्ति, प्रसाद, अर्थव्यक्ति और समाधि अर्थ-सौंदर्य के। वामन ने भी रीति को पद-रचना मानते हुए गुणों को ही उसके मूलतत्त्व माना है—वामन ने शब्द और अर्थ के आधार-भेद से गुणों के दो वर्ग कर दिये हैं : शब्दगुण और अर्थगुण। उनके शब्दगुण प्रायः सभी वर्ण-योजना, पद-बन्ध या शब्द-गुम्फ के ही चमत्कार हैं और अर्थगुणों का आधार अर्थ-सौंदर्य है ; उदारता, सौकुमार्य, समाधि और ओज के अनेक रूपों में लक्षणा-व्यंजना का चमत्कार है ; अर्थ-व्यक्ति में स्वाभाविकता अथवा यथार्थता का सौंदर्य है ; कान्ति में रस का ; माधुर्य में वक्रता अथवा विदग्धता का ; श्लेष में गोपन आदि के द्वारा क्रियाओं का चातुर्य के साथ वर्णन रहता है, और वास्तव में यह चमत्कार प्रायः अर्थश्लेष के अन्तर्गत आ जाता है। प्रसाद में आवश्यक के ग्रहण और अनावश्यक के त्याग द्वारा अर्थ-वैमल्य—या स्पष्टता की सिद्धि होती है। समता में बाह्य तथ्यों के क्रम का अभंग रहता है। परवर्ती आचार्यों ने प्रसाद, समता आदि को दोषाभाव मात्र माना है। उनका भी तर्क असंगत नहीं है, तथापि अर्थ-वैमल्य (ल्यूसिडिटी) आदि भी अपने आप में गुण हैं चाहे आप उन्हें अभावात्मक गुण ही मान लीजिये। (संस्कृत काव्यशास्त्र में भी रुद्रट आदि ने दोषाभाव को गुण ही माना है)। इस प्रकार वामन के अर्थगुणों के मूल में रस, ध्वनि, अर्थालंकार, शब्द-शक्ति का भावात्मक सौंदर्य और दोषाभाव का अभावात्मक सौंदर्य विद्यमान रहता है—इनके अतिरिक्त परम्परा-मान्य तीनों गुणों प्रसाद, ओज और माधुर्य का अन्तर्भाव तो वामनीय गुणों में है ही। निष्कर्ष यह निकला कि केवल शब्द गुम्फ ही नहीं—परम्परा-मान्य तीन गुणों के अतिरिक्त रस, ध्वनि, अर्थालंकार, शब्द-शक्ति और उधर दोषाभाव भी वामनीय रीति के मूल तत्त्व हैं। और स्पष्ट शब्दों में, परवर्ती काव्यशास्त्र की शब्दावली में—वामन के मत में रीति के बहिरंग तत्त्व हैं शब्द-गुम्फ, और अंतरंग तत्त्व हैं गुण, रस, ध्वनि (यद्यपि उस समय तक ध्वनि का आविर्भाव नहीं हुआ था) अर्थालंकार और दोषाभाव।

वामन के उपरान्त रुद्रट ने इस प्रश्न पर विचार किया और समास को रीति का मूल तत्त्व माना। उन्होंने लघु, मध्यम और दीर्घ समासों के अनुसार पांचाली, लाटोया और गौड़ीया रीतियों का स्वरूप-निरूपण किया।

वैदर्भी असमासा होती है ।—आनन्दवर्धन ने रुद्रट की लाटीया रीति को तो स्वीकार नहीं किया, परन्तु समास को रीति के कलेवर का मुख्य तत्व अवश्य माना । उनकी परिभाषा है : रीति माधुर्यादि गुणों के आश्रय से स्थित रह कर रस को अभिव्यक्त करती है । इसका अर्थ यह हुआ कि माधुर्यादि गुणों को वे रीति का आश्रय—अथवा मूल आन्तरिक तत्व मानते हैं, और रीति को रस की अभिव्यक्ति का साधन मात्र समझते हैं । इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार प्रसाद, माधुर्य और ओज गुण रीति के मूल आन्तरिक तत्व हैं, और समास उसका बाह्य तत्व । अपने समग्र रूप में रीति रसाभिव्यक्ति की माध्यम है ।

ध्वन्यालोक के पश्चात् तीन ग्रन्थों में इस प्रश्न को उठाया गया : राजशेखर की काव्यमीमांसा में, भोज के सरस्वती-कण्ठाभरण में और अग्नि-पुराण में । राजशेखर ने इस प्रसंग में कुछ नवीनता की उद्भावना की है । उन्होंने समास के साथ ही अनुप्रास को भी रीति का मूल तत्व माना है । वैदर्भी में समास का अभाव और स्थानानुप्रास होता है, पांचाली में समास और अनुप्रास का ईषद् सद्भाव रहता है, और गौड़ीया में समास और अनुप्रास प्रचुर रूप में वर्तमान रहते हैं । इनके अतिरिक्त उन्होंने तीनों रीतियों के तीन और नये आधार-तत्वों की कल्पना की : वैदर्भी—योगवृत्ति; पांचाली—उपचार; और गौड़ीया—योगवृत्तिपरम्परा ।

भोज ने भी प्रायः राजशेखर का ही अनुसरण किया—उन्होंने समास और गुण दोनों को ही रीति के मूल तत्व मानते हुए राजशेखर के योगवृत्ति आदि आधार-भेदों को और भी विस्तार दिया । अग्निपुराण में गुण और रीति का कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया गया—उनमें रीति के मूल तत्व तीन माने गये हैं : समास, उपचार (लाक्षणिक प्रयोग अथवा अलङ्कार), और मार्दव की मात्रा । पांचाली रीति मृद्वी, उपचार-युता और ह्रस्व-विग्रहा अर्थात् लघुसामाना होती है; गौड़ीया दीर्घ-विग्रहा और अनवस्थित-संदर्भा होती है—अर्थात् उसका संदर्भ एवं अर्थ सर्वथा व्यक्त नहीं होता; वैदर्भी को मुक्तविग्रहा माना गया है—अर्थात् उसमें समास का अभाव रहता है, वह नातिकोमल-संदर्भा होती है अर्थात् उसकी पद-रचना अतिकोमला नहीं होती, और उसमें औपचारिक—अथवा आलङ्कारिक (लाक्षणिक) प्रयोगों की बहुलता नहीं रहती ।

उत्तर-ध्वनि काल के आचार्यों में मम्मट और विश्वनाथ ने विशेष रूप से प्रस्तुत प्रसंग पर प्रकाश डाला है। मम्मट ने वृत्ति या रीति को वर्णव्यापार ही माना है, और फिर वर्ण-संघटन या गुम्फ का गुण के साथ नियत सम्बन्ध स्थापित किया है। उन्होंने माधुर्य और ओज गुणों के लिए वर्ण-गुम्फ नियत कर दिए हैं, और फिर इन गुणों को ही वृत्तियों का प्राण-तत्त्व माना है। इस प्रकार मम्मट के अनुसार गुण-व्यंजक वर्ण-गुम्फ ही रीति के मूलतत्त्व हैं—विश्वनाथ ने प्रायः मम्मट का ही अनुसरण किया है—परन्तु उनकी रीतियों का आधार मम्मट की अपेक्षा अधिक व्यापक है। उनका रीति-निरूपण इस प्रकार है :

वैदर्भी— माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका
अल्पवृत्तिरवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ।

(सा० द० पृ० ५२६)

अर्थात् वैदर्भी के तीन आधार तत्त्व हैं :—माधुर्य-व्यंजक वर्ण, ललित पद-रचना, समास का अभाव अथवा अल्प-समास ।

गौड़ी— ओजः प्रकाशकैर्वर्णैः बन्ध-आडम्बरः पुनः
समास-बहुला गौड़ी..... ॥

अर्थात् गौड़ी के तत्त्व हैं ओज : प्रकाशक वर्ण, आडम्बर-पूर्ण बन्ध अथवा पद-रचना, और समास बाहुल्य ।

विश्वनाथ ने वर्ण-संयोजना और शब्द-गुम्फ दोनों को ही रीति के तत्त्व माना है और उधर समास को भी ग्रहण किया है। उन्होंने भी गुण और वर्णयोजना का नियत सम्बन्ध माना है और गुण को रीति का आधार-तत्त्व स्वीकार किया है। और अन्त में, आनन्दवर्धन के समान विश्वनाथ ने भी रीति को रसाभिव्यक्ति का साधन माना है।

उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचन का सारांश यह है कि पूर्व-ध्वनि काल के वामनादि आचार्य, जो अलंकार और अलङ्कार्य में भेद न कर समस्त शब्द तथा अर्थ-गत सौन्दर्य को अलङ्कार संज्ञा देते थे, शब्द और अर्थ के प्रायः सभी प्रकार के चमत्कारों को रीति के तत्त्व मानते थे। वामन के विवेचन से स्पष्ट है कि वे पद-बंध को रीति का बहिरंग आधारतत्त्व और माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुण के अतिरिक्त रस, ध्वनि (यद्यपि यह नाम उस समय तक आविष्कृत नहीं हुआ था) शब्द-शक्ति, अलङ्कार तथा दोषाभाव को अन्तरंग

तत्त्व मानते थे । उत्तर-ध्वनि आचार्यों ने अलङ्कार और अलङ्कार्य—वस्तु और शैली अथवा प्राण और देह का अन्तर स्पष्ट किया और रस-ध्वनि को काव्य का प्राणतत्त्व तथा रीति को बाह्यांग माना—जिस प्रकार अंग-संस्थान आत्मा का उपकार करता है, इसी प्रकार रीति रस की उपकर्त्री है । उन्होंने रीति को काव्य का माध्यम मानते हुए वर्ण-संयोजन, तथा पद-रचना अर्थात् शब्द-गुम्फ तथा समास को उसके बहिरंग तत्त्व और गुण को अन्तरंग तत्त्व स्वीकार किया जिसके आश्रय से वह रस की अभिव्यक्ति करती है ।

रीति के नियामक हेतु

वामन ने तो रीति को स्वतन्त्र तथा सर्वतन्त्र सत्ता मानी थी—अतएव उनके लिए तो रीति के नियमन तथा नियामक हेतुओं का प्रश्न ही नहीं उठता—परन्तु आगे चलकर स्थिति बदल गई । रीति को परतन्त्र होना पड़ा । अनन्दवर्धन ने रस को रीति का प्रमुख नियामक हेतु माना है । रीति पूर्णतया रस के नियन्त्रण में रहती है—उसी के अधीन कुछ और भी हेतु हैं जो उपचार से रीति का नियमन करते हैं । रस के अतिरिक्त ये हेतु तीन हैं वक्तृ-श्रौचित्य, वाच्य-श्रौचित्य और विषय-श्रौचित्य ।

तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ॥ ३१६ ॥

उस (संघटना) के नियमन का हेतु वक्ता तथा वाच्य का श्रौचित्य ही है ।

इसके अतिरिक्त—

विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति ।

काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा ॥ ३१७ ॥

अर्थात् विषयाश्रित श्रौचित्य भी उसका (संघटना का) नियन्त्रण करता है । काव्य के भेदों के आश्रय से भी उसका भेद हो जाता है ।

उपर्युक्त तीन नियामक हेतुओं की थोड़ी व्याख्या अपेक्षित है । इनकी परिभाषा स्वयं आनन्दवर्धन ने की है ।

“वक्ता कवि या कवि-निबद्ध (दो प्रकार का) हो सकता है । और कवि-निबद्ध (वक्ता) भी रसभाव (आदि) से रहित अथवा रसभावयुक्त (दो

प्रकार का) हो सकता है। रस भी कथानायक-निष्ठ और उसके विरोधी (प्रतिनायक)-निष्ठ (दो प्रकार का) हो सकता है। कथानायक भी धीरोदात्तादि भेद से विभिन्न मुख्य नायक अथवा उसके बाद का (उपनायक पीठमर्द) हो सकता है। इस प्रकार वक्ता के अनेक विकल्प हैं। (हिन्दी ध्वन्यालोक पृ० २४४)।

वास्तव में यह वक्ता के स्वभाव और मन : स्थिति की व्याख्या है— वक्ता के स्वभाव और मनःस्थिति के अनुकूल ही रीति का प्रयोग उचित है।

“इसो प्रकार वाच्य (अर्थ भी) ध्वनिरूप (प्रधान) रस का अंग (अभिव्यञ्जक) अथवा रसाभास का अंग (अभिव्यञ्जक), अभिनेयार्थ या अनभिनेयार्थ, उत्तम प्रकृति में आश्रित, अथवा उससे भिन्न (मध्यम, अधम) प्रकृति में आश्रित—इस तरह नाना प्रकार का हो सकता है।” (हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० २४४)

वाच्य से अभिप्राय यहां विषय—अथवा विषयवस्तु या वर्ण्य वस्तु का है जो निश्चय ही रीति का नियामक है क्योंकि रीति का प्रयोग निस्संदेह ही वर्ण्य विषय पर निर्भर रहता है। सुकुमार विषयों की वर्णन-शैली में मार्दव और परुष विषयों की शैली में परुषता स्वाभाविक ही है।

आनन्दवर्धन के अनुसार तीसरा नियामक हेतु है विषय। विषय का अर्थ, जैसा कि स्वयं लेखक ने ही स्पष्ट कर दिया है, विषय-वस्तु अथवा वर्ण्य विषय नहीं है : उसका उल्लेख तो वाच्य के द्वारा किया ही जा चुका है। विषय से यहां काव्य के रूप का अभिप्राय है। “मुक्तक, पर्यायबन्ध, परिकथा खण्डकथा, सकल कथा, सर्गबन्ध (महाकाव्य), अभिनेयार्थ (रूपक), आख्यायिका और कथा आदि (काव्य के) अनेक प्रकार हैं। इनके आश्रय से भी संघटना या रीति में भेद हो जाता है।” (हि० ध्व० पृ० २४५)। संस्कृत काव्य-शास्त्र में बाह्यांगों के आधार पर वर्गीकरण करने की प्रवृत्ति कुछ अधिक बलवती रही है। उसमें प्रायः अनावश्यक भेद-विस्तार किया गया है इसीलिए उसके अनेक काव्य-भेद आगे चलकर मान्य नहीं हुए : विशेषकर शैली मात्र पर आश्रित काव्य-रूप प्रायः सभी लुप्त हो चुके हैं। फिर भी आनन्दवर्धन के उपर्युक्त मन्तव्य से असहमत होने के लिए कोई अवकाश नहीं है। महाकाव्य और नाटक सदृश काव्य-रूपों का प्रभाव तो रचना-रीति पर अत्यन्त प्रत्यक्ष ही रहता है—उनके अतिरिक्त अनेक सूक्ष्म भेदों का प्रभाव भी सहज

हों लक्षित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए उपन्यास और कहानी मुक्तक और गीत के रूप-भेद से उनकी शैली में भी निश्चय ही भेद रहता है।

उपर्युक्त विवेचन अत्यन्त सार्थक होने के अतिरिक्त सर्वथा आधुनिक भी है। यूरोप के काव्यशास्त्र में शास्त्रीय—अथवा छद्म शास्त्राय परम्पराओं के बाह्य मूल्यों के विरुद्ध मनोविज्ञान-सम्मत आन्तरिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के निमित्त जो कार्य उन्नीसवीं शताब्दी में किया गया (यद्यपि वहां भी लॉजाइनस, दांते आदि अनेक प्राचीन आचार्य उसका संकेत सेकड़ों-हज़ारों वर्ष पूर्व कर चुके थे), उसे हमारे यहां आनन्दवर्धन आठवीं-नवीं शताब्दी में विधिवत् सम्पादित कर चुके थे।

रीति का प्रवृत्ति, वृत्ति तथा शैली से अन्तर

शास्त्र में रीति के सहधर्मी कुछ अन्य काव्यांगों का भी प्रयोग मिलता है—उनसे पार्थक्य किये बिना रीति का वास्तविक रूप उद्घाटित नहीं हो सकता।

रीति और प्रवृत्ति — कालक्रमानुसार सबसे पहले तो प्रवृत्ति को लीजिए। प्रवृत्ति का विवेचन सर्व-प्रथम भरत में और फिर उनके अनुकरण पर राजशेखर, भोज और शिंगभूपाल आदि में मिलता है। जैसा कि मैंने आरम्भ में विवेचन किया है, भरत के अनुसार प्रवृत्ति उस विशेषता का नाम है जो नाना देशों के वेश, भाषा तथा आचार का ख्यापन करे।^१ इस प्रकार प्रवृत्ति का सम्बन्ध केवल भाषा से ही न होकर वेश तथा आचार से भी है—जबकि रीति का सम्बन्ध केवल भाषा से ही है। प्रवृत्ति पूरे रहन-सहन के ढंग से सम्बन्ध रखती है, और रीति केवल बोलने तथा लिखने के ढंग से। प्रवृत्ति के मूल तत्व प्रायः बाह्य तथा मूर्त हैं—रीति के आन्तरिक। अतएव प्रवृत्ति का निश्चयात्मक आधार भौगोलिक है परन्तु रीति का आधार कवि-स्वभावगत ही अधिक है। प्रवृत्ति व्यवहारात्मक है, इसीलिए राजशेखर ने उसको केवल वेश-विन्यास-क्रम ही माना है, रीति एकान्त साहित्यिक।

१. पृथिव्यां नाना देशवेशभाषाचारवार्ता ख्यापयतीति प्रवृत्तिः

(नाट्यशास्त्र)

इसीलिए प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नाटक से ही है—रीति का काव्य से (या नाटक के काव्यांग से)। परन्तु इस भेद के रहते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि रीति की कल्पना के पीछे प्रवृत्ति की प्रेरणा निस्संदेह वर्तमान थी।

रीति और वृत्ति :—प्रवृत्ति का प्रचलन अत्यन्त सीमित हो रहा—अतएव उसके विषय में विशेष भ्रान्ति उत्पन्न नहीं हुई। परन्तु वृत्ति और रीति में अन्त तक भ्रान्ति के लिए अवकाश रहा।

वृत्ति के संस्कृत काव्य-शास्त्र में अनेक अर्थ हैं—किन्तु उन सबका प्रस्तुत प्रसंग से सम्बन्ध नहीं है। वृत्ति के केवल दो रूप ऐसे हैं जो रीति के समानधर्मी हैं—जिनसे उसका पार्थक्य आवश्यक है। ये दो रूप हैं (१) नाट्य वृत्तियाँ : भारतीय, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी—जिन्हें आनन्दवर्धन और अभिनव ने अर्थवृत्तियाँ कहा है। (२) काव्य-वृत्तियाँ : उपनागरिका, परुषा और कोमला (ग्राम्या)—जिन्हें आनन्दवर्धन तथा अभिनव ने शब्दवृत्तियाँ कहा है। इन्हें अनुप्रासजाति भी कहते हैं।

आनन्दवर्धन ने वृत्ति की परिभाषा इस प्रकार की है : व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते—अर्थात् व्यवहार या व्यापार का नाम वृत्ति है। अभिनवगुप्त ने इसी की तात्त्विक व्याख्या करते हुए लिखा है : तस्माद् व्यापारः पुमर्थ-साधको वृत्तिः—पुरुषार्थ-साधक व्यापार का नाम ही वृत्ति है। और स्पष्ट शब्दों में, पात्रों की कायिक, वाचिक और मानसिक विचित्रता से युक्त चेष्टा ही वृत्ति है। इस व्यापार का वर्णन काव्य में सर्वत्र होता है—कोई भी वर्णन व्यापार-शून्य नहीं होता, इसीलिए वृत्ति को काव्य की माता कहा गया है :

सर्वेषामेव काव्यानां वृत्तयो मातृकाः स्मृताः। (भरत)

यहां वाचिक के साथ ही कायिक और मानसिक चेष्टाओं का भी अन्तर्भाव है—इसलिए वृत्ति का रूप शब्दगत और अर्थगत दोनों प्रकार का होता है। आगे चलकर ये दोनों रूप पृथक् हो जाते हैं। आनन्दवर्धन के शब्दों में रसानुगुण अर्थ-व्यवहार भारती, सात्वती आदि वृत्तियों का रूप धारण कर लेता है, और रसानुगुण शब्द-व्यवहार उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का जिनके उद्भावक हैं आचार्य उद्भट। उद्भट ने इन्हें अनुप्रासजाति ही माना है, अतएव उनके मत से ये वृत्तियाँ वर्ण-व्यवहार मात्र ही हैं—इनमें पद-संघटना का विचार नहीं है। इन वृत्तियों के स्वरूप के विषय में आचार्यों में

मतभेद रहा है। रुद्रट ने वृत्ति को समास के आश्रित माना है और समासयुक्त पद-संघटना को उसका आधार स्वीकार किया है :

नाम्नां वृत्तिर्द्वैधाभवति समासासमाभेदेन ।

आनन्दवर्धन ने थोड़ा और व्यापक रूप देते हुए उसे शब्द-व्यवहाररूप माना है। परन्तु आगे चलकर मम्मट ने फिर उद्भट के अनुसरण पर उसे नियतवर्ण-व्यापार मात्र ही स्वीकार किया है। और बाद में चलकर तो वृत्ति का रीति में अंतर्भाव ही हो गया।

अर्थ-वृत्ति : उपयुक्त दो प्रकार की वृत्तियों में पहली का रीति से निकट सम्बन्ध नहीं है : इनका प्रयोग प्रायः नाटक के प्रसंग में ही होता है—आज उपन्यास के क्षेत्र में भी इनकी सार्थकता हो सकती है। कायवाङ्मनसां चेष्टा (अभिनवगुप्त) होने के कारण इनकी परिधि अत्यंत व्यापक है। रीति का सम्बन्ध जहां वाणो से ही है वहां इनका सम्बन्ध शारीरिक तथा मानसिक व्यापारों से भी है। अर्थ-वृत्ति का सम्बन्ध चरित्र-विधान तथा व्यक्तित्व-चित्रण से है : रीति वचन-रचना का प्रकार मात्र है। हां दोनों के मूल में रसानुकूल्य का आधार होने के कारण रस के सम्बन्ध से उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थिर किया जा सकता है। इस दृष्टि से कैशिकी पांचाली के समानान्तर है, सात्वती और आरभटी गौड़ाया के, और भारती वदर्भी के—भरत ने यद्यपि केवल शब्द-वृत्ति मानते हुए उसका क्षेत्र अत्यंत सीमित कर दिया है फिर भी परवर्ती आचार्यों ने उसको सत्ता सर्वत्र मानी है : वृत्तिः सर्वत्र भारती (शारदातनय)।

वर्ण-वृत्ति : दूसरी वृत्तियों का—उपनागरिका, परुषा तथा कोमला का—रीतियों से इतना प्रत्यक्ष तथा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्रायः उनके विषय में आन्ति हो जाती है। इस विषय में आचार्यों के तीन मत हैं :

(१) वृत्ति की सत्ता रीति से स्वतंत्र है। उद्भट ने केवल वर्ण-व्यवहार रूप वृत्तियों का ही विवेचन किया है। रुद्रट ने भी समास को आधार मानते हुए वृत्ति का रीति से ईषत् पृथक् उल्लेख किया है। उधर आनन्दवर्धन तथा अभिनव में भी दोनों का पृथक् वर्णन है—यद्यपि आगे चलकर आनन्दवर्धन ने वृत्ति को शब्द-व्यवहार मानकर वृत्ति और रीति की एकता स्वीकार करली है।

(२) मम्मट और उनके परवर्ती आचार्य परिणितराज जगन्नाथ आदि वृत्ति और रीति का एक ही मानते हैं। मम्मट ने तो उपनागरिका आदि वृत्तियों का विवेचन करने के उपरान्त स्पष्ट ही लिख दिया है कि इन्हें ही वंदर्भी आदि रीतियों के नाम से अभिहित किया जाता है। जगन्नाथ ने रीति और वृत्ति दोनों शब्दों का ही वंदर्भी आदि के लिए प्रयोग किया है।

(३) कुछ आचार्य वृत्ति को रीति का अंग मानते हैं : वृत्ति से उनका तात्पर्य वर्ण-गुम्फ का है और वर्ण-गुम्फ रीति के अनेक तत्वों में से एक है—अतएव वह उसका अंग है। वामन ने वृत्ति का कैशिकी आदि के अर्थ में ही उल्लेख किया है, अनुप्रास जाति के अर्थ में वृत्ति का प्रयोग उद्भट का आविष्कार है जिसे वामन ने ग्रहण नहीं किया। परन्तु उनके रीति-विवेचन से स्पष्ट है कि अनुप्रासजाति को वे रीति का एक बाह्य आधार-तत्त्व मानते हैं। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से वे वृत्ति को रीति का अंग मानते हैं। विश्वनाथ ने रीति के तीन तत्व माने हैं : रचना (शब्द-गुम्फ), समास, तथा वर्ण-संयोजना। अतएव उनके मत में भी वर्ण-संयोजना रूप वृत्ति सम्भवतः ही रीति का अंग है।

उपर्युक्त अभिमतों के परीक्षण के उपरान्त यह परिणाम निकलता है कि यदि उद्भट का मत मान्य है और तदनुसार वृत्ति केवल वर्ण-गुम्फ का नाम है तब तो वह रीति का एक बाह्य आधार तत्त्व है, परन्तु यदि आनन्दवर्धन के अनुसार उसे शब्द-व्यवहार माना जाए तो फिर वह रीति का पर्याय मात्र है : उत्तर-ध्वनि काल के आचार्यों का यही मत रहा है। हमारा अपना विनम्र मंतव्य यह है कि वृत्ति शब्द की इस अर्थ में उद्भावना और उसका अंत तक प्रयोग उसके पृथक् अस्तित्व के प्रमाण हैं। वह वर्ण-व्यवहार—आधुनिक शब्दावली में वर्ण-संयोजना—रूप है, और रीति का एक बाह्य अंग है। रीति के दो बाह्य तत्व हैं : (१) संघटना (शब्द-योजना, समास आदि) और (२) वर्ण-योजना जिसका दूसरा नाम है वृत्ति।

रीति और शैली : रीति का समानधर्मी अब केवल एक शब्द रह जाता है : शैली। वैसे तो यह शब्द अत्यंत प्राचीन है और इसकी व्युत्पत्ति शील से हुई है। शील का अर्थ है स्वभाव जो कुन्तक के मत में रीति का नियामक आधार है। जिस प्रकार स्वभाव की अभिव्यक्ति का मार्ग रीति है, उसी प्रकार शील (स्वभाव) की अभिव्यक्ति-पद्धति शैली भी है और उसके

व्युत्पत्ति अर्थ में भी वैयक्तिक तत्व मूलतः वर्तमान है। परन्तु फिर भी भारतीय काव्यशास्त्र में इसका प्रयोग प्रस्तुत अर्थ में प्रायः नहीं हुआ। शास्त्र में यह शब्द व्याख्यान-पद्धति आदि के प्रसंग में ही प्रयुक्त हुआ है : यथा—‘प्रायेण आचार्याणामियं शैली यत् सामान्येनाभिधाय विशेषेण विवृणोति। (कुल्लुक भट्ट की टीका—मनुस्मृति १।४। : बल्देव उपाध्याय—भारतीय सा० शा० से उद्धृत)। अभिव्यक्ति की पद्धति के अर्थ में शैली का प्रयोग आधुनिक ही है जो अंगरेज़ी के स्टाइल शब्द का पर्याय है।

विशिष्ट अर्थ में रीति और शैली में बहुत अंतर नहीं है। शैली की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं। शैली विचारों का परिधान है। शैली उपयुक्त शब्दावली का प्रयोग है। अभिव्यक्ति की रीति का नाम शैली है। शैली भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग है। शैली ही व्यक्ति है, इत्यादि।

शैली के दो मूलतत्त्व हैं : एक व्यक्ति-तत्व, और दूसरा वस्तु-तत्व।

यूरोप के काव्य-शास्त्र में इन दोनों तत्वों का विस्तृत विवेचन किया गया है। यूनानो आचार्यों के उपरांत रोम के, और उनके उपरांत फ्रांस, इंग्लैंड आदि के अनेक काव्य-शास्त्रियों ने शैली के वस्तु-तत्व का सम्यक् विवेचन किया है। अब रह जाता है शैली का वैयक्तिक तत्व। वास्तव में शैली के व्यक्ति-तत्व और वस्तु-तत्व में व्यक्ति-तत्व ही प्रधान है : उसी के द्वारा शैलीकार शैली के बाह्य उपकरणों का समन्वय—अनेकता में एकता की स्थापना करता है। वैयक्तिक तत्व के दो रूप हैं : एक तो शैली द्वारा कवि की आत्माभिव्यंजना—अर्थात् शैली का आत्माभिव्यंजक रूप और दूसरा पात्र तथा परिस्थिति के साथ शैली का सामंजस्य। भारतीय रीति-विवेचन में पहला रूप विरल है। परन्तु इस प्रसंग में एक बात याद रखनी चाहिए : इसमें संदेह नहीं कि उसे बांझित महत्व नहीं दिया गया फिर भी उसकी स्वीकृति का सर्वथा अभाव नहीं है। दण्डी ने काव्य-मार्ग को प्रतिकविस्थित माना है और कुन्तक ने तो कवि-स्वभाव को ही शैली का मूल आधार माना है। उनके उपरान्त शारदातनय आदि ने भी ‘पुंसि पुंसि विशेषेण कापि कापि सरस्वती’ कह कर व्यक्ति-तत्व को स्वीकृति दी है। वैयक्तिक तत्व के दूसरे रूप का विधान तो भारतीय काव्यशास्त्र में निश्चय ही मिलता है। यद्यपि वामन ने इसका स्पष्टीकरण नहीं किया किन्तु वामन से पूर्व भरत ने स्पष्ट निर्णय दिया है कि नाटक में भाषा

पात्र के शैली-स्वभाव की अनुवर्तिनी होनी चाहिए। उधर आनन्दवर्धन ने तो वक्ता, वाच्य और विषय के औचित्य को रीतियों का नियामक ही माना है।

अब प्रश्न यह है कि क्या शैली और रीति पर्याय शब्द हैं। अथवा उनमें अन्तर है। डा० सुशीलकुमार डे ने उनको एक मानने के विरुद्ध चेतावनी दी है। उनका कहना है कि रीति में व्यक्ति-तत्त्व का अभाव है, और व्यक्ति-तत्त्व शैली का मूल आधार है अतएव दोनों को एक मानना भ्रान्ति है। हिन्दी के विद्वानों ने भी उनके आधार पर इन दोनों का भेद स्वीकार किया है। जहां तक शैली के वस्तु-रूप का सम्बन्ध है, वहां तक तो रीति से उसका पार्थक्य करना अनावश्यक है। जैसा मैंने रीतिकाव्य की भूमिका में स्पष्ट किया है यूरोप के आचार्यों द्वारा निदिष्ट शैली के तत्त्व नामान्तर से रीति के तत्त्वों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं—अथवा रीति के तत्त्वों का उपर्युक्त शैली-तत्त्वों में अन्तर्भाव हो जाता है। लय, स्वर-लालित्य आदि कला तत्त्व वर्ण-गुम्फ और शब्द-गुम्फ के अन्तर्गत आ जाते हैं, बौद्धिक तत्त्वों का समावेश अर्थव्यक्ति प्रसादादि गुणों और कतिपय अर्थालङ्कारों के अन्तर्गत हो जाता है, और रागात्मक तत्त्व रस (कान्ति-गुण) माधुर्य और ओज गुणों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में वस्तु-तत्त्व शैली और रीति दोनों के सर्वथा समान हैं—केवल नाम-भेद है। व्यक्ति-तत्त्व के सम्बन्ध में भी दोनों में इतना भेद नहीं है जितना कि डा० डे ने माना है : रीति पर व्यक्तित्व का प्रभाव दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों तथा कुन्तक, शारदातनय आदि नवीन आचार्यों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। कुन्तक का विवेचन तो सर्वथा आधुनिक ही प्रतीत होता है—वे तो यूरोप के रोमांटिक आलोचकों की भाँति ही स्वभाव पर बल देते हैं। यूरोप में भी पुनर्जागरण काल और विशेषरूप से रोमांटिक युग के बाद ही व्यक्तित्व को यह उभार मिला है। यूनान और रोम के—बाद में इटली और फ्रांस के आलोचकों ने तो प्रायः शैली के वस्तु-तत्त्व पर ही बल दिया है।

उपर्युक्त विवेचन के परिणाम इस प्रकार हैं :

(१) रीति और शैली का वस्तु-रूप एक ही है। आरम्भ में भारत में यूरोप दोनों के काव्य-शास्त्रों में प्रायः वस्तु-रूप का ही विवेचन हुआ है।

(२) भारतीय रीति में व्यवित-तत्त्व की सर्वथा अस्वीकृति नहीं जैसा कि डा० डे आदि ने माना है।

(३) फिर भी अपने वर्तमान रूप में शैली में व्यक्ति-तत्त्व का जितना महत्त्व है, उतना भारतीय रीति में कभी नहीं रहा। विधान रूप में उसमें वस्तु-तत्त्व का ही प्राधान्य रहा है। वामन की दृष्टि तो वस्तु-परक है ही आनन्दवर्धन जैसे सर्वमान्य आलोचकों ने भी—जिन्होंने व्यक्ति की सत्ता को उचित स्वीकृति दी है, रीति के स्वरूप में व्यक्ति-तत्त्व का प्रभाव अत्यन्त संयत मात्रा में ही माना है।

(४) इस प्रकार रीति और शैली के वर्तमान रूप में व्यक्ति-तत्त्व की मात्रा का अन्तर अवश्य हो गया है। कम से कम 'शैली ही व्यक्ति है' की भाँति भारतीय रीति व्यक्ति से एकाकार नहीं हो पाई। इस सम्बन्ध में कुन्तक जैसे आचार्य की एक आध उक्ति को अपवाद ही मानना चाहिये।

गुण-विवेचन

गुण की परिभाषा : वामन से पूर्व भरत और दण्डी ने दश गुणों का सांगोपांग वर्णन तो किया है, परन्तु परिभाषा नहीं की ।

भरत :—भरत ने गुणों को भावात्मक तत्त्व न मान कर अभावात्मक—अर्थात् दोषों का विपर्यय माना है : गुण विपर्ययाद् ऐषाम् माधुर्यौदार्यलक्षणाः । (नाट्यशास्त्र, काव्यमाला १६।६१)—अथवा एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः । (नाट्यशास्त्र-चौखम्बा—१७।६५०) । विपर्यय का वास्तविक अर्थ क्या है इस विषय में आचार्यों में मतभेद रहा है । इस शब्द के तीन अर्थ किये गये हैं : अभाव, अन्यथा भाव और वैपरीत्य । अभिनवगुप्त ने विघात या अभाव को ही ग्रहण किया है । उनके अनुसार भरत का मत है कि दोष का अभाव गुण है । उत्तरध्वनि काल के आचार्यों ने भी दोष के अभाव को गुण (सद्गुण) माना है : महान् निर्दोषता गुणः । परन्तु फिर भी भरत के गुण-विवेचन से यह सिद्ध नहीं होता कि उनके सभी गुणों की स्थिति अभावात्मक है । उनके लक्षणों से स्पष्ट है कि कुछ गुणों को छोड़कर शेष सभी की स्थिति निश्चय ही भावात्मक है । उदाहरण के लिए समता की स्थिति अवश्य ही अभावात्मक है, परन्तु उदारता, सौकुमार्य, ओजस् आदि गुण जिनमें दिव्यभाव, सुकुमार अर्थ, और शब्दार्थ-सम्पत्ति आदि का निश्चित रूप से सद्भाव रहता है अभावात्मक कैसे हो सकते हैं ? अन्यथाभाव और वैपरीत्य की स्थिति विलोम रूप से भावात्मक हो जाती है—धन का सद्भाव भावात्मक स्थिति है, धन का अभाव अभावात्मक है, परन्तु ऋण का सद्भाव पुनः भावात्मक स्थिति है क्योंकि ऋण के अभाव-रूप में उसकी अभावात्मक स्थिति भी

होता है। इसलिए विपर्यय का अर्थ वैपरीत्य ही मानना संगत है—भरत ने दोषों का विवेचन पहले किया है अतएव उसी क्रम में दोषों के सम्बन्ध से—उनके विपर्यय रूप में—उन्होंने गुणों का भी विवेचन किया है। और, जैसा कि जैकोबी ने समाधान किया है, यह क्रम सामान्य व्यवहार-दृष्टि से रखा गया है जिसके अनुसार मनुष्य के दोष अधिक स्पष्ट रहते हैं—और गुणों की कल्पना हम प्रायः उन सहज-ग्राह्य दोषों के निषेध (अभाव अथवा विपर्यय) रूप में ही करते हैं।

अतएव हमारा निष्कर्ष यह है कि भरत ने गुण को दोष का वैपरीत्य ही माना है, परन्तु, (जैसा कि भिन्न मत रखते हुए भी एक स्थान पर डा० लाहिरी ने संकेत किया है,) निर्दिष्ट दश गुण पूर्व-विवेचित दश दोषों के ही क्रमशः विपरीत रूप नहीं हैं : यह तो उनके नामकरण से ही स्पष्ट है। अर्थात् यह वैपरीत्य सामान्य है, विशिष्ट नहीं है।

इसके अतिरिक्त भरत के अनुसार, लक्षण (काव्य-बन्ध) तथा अलंकार की भाँति गुण की भी सार्थकता यही है कि वह वाचिक अभिनय को प्रभावशाली बनाता है। नाटक में जो वाचिक अभिनय है काव्य में वही काव्य भाषा या शैली है, इस प्रकार काव्य के प्रसंग में गुण का कार्य है काव्य-शैली को समृद्ध करना—प्रभावशाली बनाना।

भरत ने नाटक का और उपचार से काव्य का मूल तत्व रस माना है—वाचिकाभिनय रस का साधन है अतएव रस के अधीनस्थ है, और उपर्युक्त गुण आदि तत्व भी जो वाचिकाभिनय के चमत्कार के अंग हैं, परम्परा-सम्बन्ध से रस के अधीनस्थ हैं।

उपर्युक्त विवेचन के सार रूप हम भरत के अनुसार गुण का लक्षण इस प्रकार कर सकते हैं :

दोषों के विपर्यय (वैपरीत्य) रूप गुण काव्य-शैली को समृद्ध करने वाले तत्व हैं जो परम्परा-सम्बन्ध से रस के आश्रित रहते हैं।

दृष्टि :— दण्डी ने भा दशगुणों का विवेचन तो विस्तार से किया है, किन्तु गुण का सामान्य लक्षण नहीं किया। तथापि उनके दो श्लोक ऐसे हैं जिनसे यह निष्कर्ष निकालने में कठिनाई नहीं होती कि गुण के स्वरूप के विषय में उनकी धारणा क्या थी।

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।
 ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते, कस्तान् कात्सर्येन वक्ष्यति ॥२,१॥
 कारिचन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः
 साधारणमलंकारजातमन्यत् प्रदर्श्यते ॥२,३॥
 (काव्यादर्श)

काव्य के शोभाकारक धर्म अलंकार कहलाते हैं—उनकी कल्पना अब भी बराबर हो रही है । उनका समग्र रूप में वर्णन कौन कर सकता है ?

(इससे) पूर्व भी मार्गों का विभाग करने के लिए कुछ अलंकारों^१ का वर्णन किया जा चुका है । (अब) साधारण अलंकारों का वर्णन किया जाता है ।

उपर्युक्त श्लोकों का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है :

काव्य के शोभा-विधायक सभी धर्म अलंकार कहलाते हैं—उनकी संख्या नित्य वर्धमान है—वे असंख्य हो सकते हैं ।

उपमा रूपक आदि प्रसिद्ध अलंकारों को दण्डी ने 'साधारण अलंकार' कहा है ।

इन साधारण अलंकारों के अतिरिक्त अन्य सभी सौन्दर्य-विधायक तत्व भी अलंकार ही हैं ।

मार्ग-विभाजन के आधारभूत दश गुण भी अलंक्रिया अथवा अलंकार ही हैं ।

अतएव (१) दण्डी के अनुसार गुण भी एक प्रकार के अलंकार—अर्थात् काव्य-शोभा-विधायक धर्म हैं : शोभाकरत्वं हि अलंकारलक्षणं, तल्लक्षण-योगात् तेषां (श्लेषादयो दशगुणा अपि) अलंकाराः (तरुणवाचस्पति) ।

(२) ये काव्य के स्वतंत्र अंग हैं—रस के आश्रित नहीं हैं, अर्थात् इनके द्वारा काव्य का सीधा उपकार होता है रस के आश्रय से नहीं । दण्डी

१ दण्डी के टीकाकारों ने इनका अर्थ अनुप्रास आदि शब्दालंकार किया है—परन्तु डा० लाहरी इनसे गुणों का आशय ग्रहण करते हैं । हमको डा० लाहरी का ही मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है ।

ने काव्य को इष्टार्थवाचक पदावली माना है—अतएव काव्य-शोभा का अर्थ हुआ शब्दार्थ की शोभा और उसके विधायक गुणों का सम्बन्ध सीधा शब्दार्थ से हुआ ।

वामन :— गुण का लक्षण सबसे पहले वामन ने किया है : ‘काव्य के शोभाकारक धर्म गुण कहलाते हैं । शब्द और अर्थ के वे धर्म जो काव्य को शोभा-सम्पन्न करते हैं गुण कहलाते हैं । वे हैं ओज, प्रसादादि—यमक उपमादि नहीं क्योंकि यमक उपमादि अलंकार, अकेले, काव्य-शोभा की सृष्टि नहीं कर सकते । इसके विपरीत ओज प्रसादादि अकेले ही काव्य का शोभा-सम्पन्न कर सकते हैं ।

+ + + +

गुण नित्य हैं—उनके बिना काव्य में शोभा नहीं आ सकती ।

(काव्यालंकारसूत्र ३, १)

अर्थात्

(१) गुण शब्द और अर्थ के धर्म हैं ।

(२) वे काव्य के मूल शोभाधायक तत्व हैं ।

(३) वे काव्य के काव्यत्व के लिए अनिवार्य हैं । उनके बिना काव्य काव्य-पद का अधिकारी नहीं होता ।

इसके अतिरिक्त (४) भरत के प्रतिकूल तथा दण्डी के अनुकूल वामन गुणों को रस के धर्म न मानकर शब्दार्थ के ही धर्म मानते हुए काव्य में उनकी स्वतन्त्र तथा प्रमुख सत्ता मानते हैं ।—गुण रस के आश्रित नहीं हैं वरन् कान्ति गुण का अंग होने के कारण रस ही गुण का अंग है :—दीप्तरसत्व कान्तिः ।

ध्वनिकार तथा उनके अनुयायी : ध्वनिकार ने गुणों का स्वतन्त्र अस्तित्व न मानकर उन्हें रस के आश्रित माना है । उन्होंने गुण का लक्षण इस प्रकार किया है : “तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।” अर्थात् जो प्रधानभूत (रस) अंगों के आश्रित रहने वाले हैं उनको गुण कहते हैं । इस प्रकार ध्वनिकार ने उन्हें आत्मभूत रस के धर्म माना है शरीरभूत शब्दार्थ के नहीं ।

ध्वनिकार के उपरान्त प्रायः उन्हीं का मत मान्य रहा । सम्मत ने उनके लक्षण को और स्पष्ट करते हुए लिखा है :

ये रसस्यांगिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मनः
उत्कर्षहेतवः ते स्युः अचलस्थितयो गुणाः ॥

(काव्यप्रकाश)

आत्मा के शौर्यादि (गुणों) की भाँति अंगीभूत रस के उत्कर्षकारी अचलस्थिति धर्म गुण कहलाते हैं । अर्थात्

- (१) गुण रस के धर्म हैं ।
- (२) वे अचलस्थिति अथवा नित्य हैं ।
- (३) वे रस का उत्कर्ष करते हैं ।

विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने प्रायः इसी लक्षण को प्रकारान्तर से दुहराया है । केवल पण्डितराज जगन्नाथ ने गुण को रसधर्म मात्र मानने में आपत्ति की है । उनका तर्क है कि काव्य का आत्मन् होने के कारण रस तो गुणशून्य हुआ—उसका धर्म अथवा गुण कैसा ? (परमात्मा गुणशून्य एवेति मायावादिनो मन्यन्ते ।) अतएव गुण शब्दार्थ का धर्म है । परन्तु आगे चलकर उनके विवेचन में शब्द-अर्थ के साथ साथ रस को भी गुण का आधार माना गया है जिससे गुण का रसधर्मत्व फिर स्थापित हो जाता है । और वास्तव में अन्ततोगत्वा पण्डितराज ने इसका निषेध नहीं किया ।—ध्वनि की मान्यता स्वीकार कर लेने पर वह सम्भव भी नहीं था ।.....

निष्कर्ष यह है कि गुण काव्य के उत्कर्ष-साधक तत्व हैं इस विषय में सबकी पूर्ण सहमति है । परन्तु वामन आदि पूर्व-ध्वनि काल के आचार्यों ने उन्हें शब्दार्थ के धर्म माना है जिनकी सत्ता स्वतन्त्र है—रस कान्ति का अंग होने के नाते गुण का अंग है, गुण रस के आश्रित अथवा रस के धर्म नहीं है । अर्थात् वे शब्दार्थ रूप काव्य का साक्षात् उपकार करते हैं—रस के आश्रय से नहीं । इसके विपरीत उत्तर-ध्वनि काल के आचार्य उन्हें प्राण रूप रस के धर्म मानते हैं—शरीर-रूप शब्दार्थ के नहीं ।—वे रस के आश्रय से ही काव्य की उत्कर्ष-साधना करते हैं । आगे चलकर गुण की यही परिभाषा सर्वमान्य हो गई और मम्मट ने उत्तर-ध्वनि काल के आचार्यों की गुण-विषयक धारणाओं को पारिभाषिक शब्दों में बाँध दिया । गुणों का साक्षात् सम्बन्ध रस से ही स्थापित हो गया—शब्दार्थ के साथ उसका सम्बन्ध केवल औपचारिक ही माना गया । परन्तु इस विषय में स्थिति सर्वथा निर्भ्रान्त और संशय-

होन नहीं रही—जगन्नाथ ने तो स्पष्ट ही गुणों को शब्दार्थ के (कम से कम शब्दार्थ के भी) धर्म माना। मम्मट और विश्वनाथ ने भी माधुर्य तथा ओज आदि का वर्णों से स्पष्ट सम्बन्ध माना है—व्यंग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध भी एक प्रकार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। माधुर्यादि के स्वरूप-निर्धारण में वर्ण-गुम्फ तथा शब्द-गुम्फ का आधार सदा ही निश्चय-पूर्वक ग्रहण किया गया है। अतएव मूलतः रस के साथ सम्बद्ध होते हुए भी गुण शब्दार्थ से सर्वथा असम्बद्ध नहीं है : उन्हें रस के धर्म तो मानना ही चाहिए, परन्तु साथ ही शब्दार्थ के धर्म मानने में भी आपत्ति नहीं करनी चाहिए। शौर्यादि की उपमा भी इस मन्तव्य को पुष्ट ही करती है क्योंकि इसमें सदेह नहीं कि वे मूलतः आत्मा के—अन्तरंग व्यक्तित्व के धर्म हैं—परन्तु बाह्य व्यक्तित्व से उनका कोई सम्बन्ध ही न हो यह भी नहीं माना जा सकता। मधुर व्यक्तित्व अथवा ओजस्वा व्यक्तित्व के लिए आत्मा के ही माधुर्य अथवा ओज को अपेक्षा नहीं होती आकृति के माधुर्य और तेज की भी आवश्यकता रहती है—केवल औपचारिक कह कर उसको टाल देना पर्याप्त नहीं है।

अतः गुण उन तत्वों को कहते हैं जो विशेषरूप से प्राणभूत रस के और समान्य रूप से शरार-भूत शब्दार्थ के आश्रय से काव्य का उत्कर्ष करते हैं।

अथवा

गुण काव्य के उन उत्कर्ष-साधक तत्वों को कहते हैं जो मुख्य रूप से रस के और गौण रूप से शब्दार्थ के नित्य धर्म हैं।

गुण के आधार-तत्व

दण्डी और वामन आदि पूर्व-ध्वनि आचार्यों ने गुण को शब्द और अर्थ का धर्म माना है : उनके गुण-विवेचन से स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ के चमत्कार (वर्ण-गुम्फ, शब्द-गुम्फ आदि शब्द-चमत्कार और उधर अग्राम्य-त्व, अपारुह्य, रस आदि अनेक प्रकार के अर्थ-चमत्कार) गुण के आधार-तत्व हैं। इनके उपरान्त जब ध्वनिकार ने और उनके अनुयाइयों ने गुण को रसधर्म मान लिया तो स्वभावतः ही उसका स्वरूप सूक्ष्मतर हो गया : वह शब्द-चमत्कार या अर्थ-चमत्कार न रह कर 'चित्त-वृत्ति' माना गया। अभिनव,

मरुट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ ने उमे स्पष्ट शब्दों में चित्तवृत्ति रूप माना है : वर्णादि व्यंजक रूप में उसके आधार हैं । —जगन्नाथ ने, इससे भी अधिक, उन्हें प्रयोजन रूप माना है । रस-ध्वनिवादियों के अनुसार माधुर्यादि गुण द्रुति आदि चित्तवृत्तियों के तद्रूप ही हैं—उनका वास्तविक आधार रस ही है, परन्तु व्यंजक रूप में वर्ण-गुम्फ, समास तथा रचना आदि भी गुण के आधार हैं । जैसा कि मैंने अभी स्पष्ट किया है गुण रस और शब्दार्थ दोनों का ही धर्म है : रस का धर्म होने के नाते वह चित्तवृत्ति रूप है और शब्दार्थ का धर्म होने के नाते उसे वर्णगुम्फ और शब्द-गुम्फ पर आश्रित भी मानना पड़ेगा : गुण के स्वरूप निरूपण में वर्ण, समास आदि का अनिवार्य आधार इसका प्रमाण है । अतएव गुण अपने सूक्ष्म-रूप में चित्तवृत्ति रूप है और स्थूल अथवा मूर्तरूप में वर्ण-गुम्फ तथा शब्द-घटना रूप हैं, द्रुति, दीप्ति व्यापकत्व नामक चित्तवृत्ति उसका आंतर आधारतत्त्व है तथा वर्ण-गुम्फ और शब्द-गुम्फ बाह्य ।

गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति

उपर्युक्त व्याख्या से गुण का लक्षण तो निर्धारित हो जाता है, परन्तु उसके वास्तविक स्वरूप का उद्घान पूर्णतः नहीं होता । उसके लिए गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति का स्पष्टीकरण आवश्यक है । आनन्दवर्धन ने तो केवल यही कहा है कि शृङ्गार, रौद्र आदि रसों में, जहां चित्त आह्लादित और दीप्त होता है, माधुर्य, श्रोज आदि गुण बसते हैं, परन्तु आह्लादन (द्रुति) और दीप्ति से गुणों का क्या सम्बन्ध है, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया । क्या माधुर्य और चित्त की द्रुति अथवा श्रोज और चित्त की दीप्ति परस्पर अभिन्न हैं अथवा उनमें कारण-कार्य सम्बन्ध है ? इस समस्या को अभिनव ने सुलझाया है । उन्होंने स्पष्ट कहा है कि गुण चित्त की अवस्था का ही नाम है । माधुर्य चित्त की द्रवित अवस्था है, श्रोज दीप्ति है और प्रसाद व्यापकत्व है । चित्त की यह द्रुति, दीप्ति अथवा व्याप्ति रस-परिपाक के साथ ही घटित होती है । कहने का तात्पर्य यह है कि शृङ्गार रस की अनुभूति से चित्त में जो एक प्रकार की आर्द्रता का संचार होता है वही माधुर्य है, वीर रस के अनुभव से उसमें जो एक प्रकार की दीप्ति उत्पन्न होती है वही श्रोज है, और सभी रसों के अनुभव से चित्त में जो एक व्यापकत्व आता है वही प्रसाद है । इस प्रकार अभिनव

के अनुसार माधुर्य आदि गुण चित्त की द्रुति आदि अवस्थाओं से सर्वथा अभिन्न हैं और चूँकि ये अवस्थाएं रसानुभूति के कारण ही उत्पन्न होती हैं, अतएव रस को कारण और गुण को उसका कार्य कहा जा सकता है। कारण और कार्य में अन्तर हाना अनिवार्य है, इसलिए रस और चित्त-द्रुति आदि के अनुभव में भी अन्तर अवश्य मानना होगा कम-से-कम काल-क्रम का अन्तर तो है ही। परन्तु चूँकि रस की पूर्ण स्थिति में दूसरे अनुभव के लिए स्थान नहीं रहता, अतएव चित्तद्रुति आदि का भी सहृदय को पृथक् अनुभव नहीं रह पाता। वह रस के अनुभव में ही निमग्न हो जाता है। आनन्दवर्धन ने गुणों को रस के नित्य धर्म इसी दृष्टि से माना है।

अभिनव के उपरांत माधुर्य आदि गुणों को मम्मट ने रस के उत्कर्ष-वर्द्धक एवं अचल-स्थिति धर्म माना और उन्हें चित्त-द्रुति आदि का कारण माना। अभिनव ने रस को गुण का कारण माना था और गुण को चित्त-द्रुति आदि से अभिन्न स्वीकार किया था। मम्मट गुण को चित्त-द्रुति आदि का कारण मानते हैं। गुण का स्वरूप क्या है इस विषय में मम्मट ने कुछ प्रकाश नहीं डाला। मम्मट का प्रतिवाद विश्वनाथ ने किया। उन्होंने फिर अभिनव के मत की ही प्रतिष्ठा की। अर्थात् चित्त के द्रुति दीप्तत्व-रूप आनन्द को ही गुण माना। परन्तु उनका मत था कि 'द्रवीभाव या द्रुति आस्वाद-स्वरूप आह्लाद से अभिन्न होने के कारण कार्य नहीं है, जैसा कि अभिनव ने किसी अंश तक माना है। आस्वाद या आह्लाद रस के पर्याय हैं। द्रुति रस का ही स्वरूप है, उससे भिन्न नहीं है।' इस तरह विश्वनाथ ने एक प्रकार से गुण को रस से ही अभिन्न मान लिया है।

इन मान्यताओं को पण्डितराज जगन्नाथ ने चुनौती दी। सबसे पहले उन्होंने अभिनव गुस के तर्क का प्रतिवाद किया। अभिनव गुस के अनुसार एक ओर तो गुण रस के धर्म हैं और दूसरी ओर द्रुति आदि के तद्रूप होने के कारण रस के कार्य हैं—अतएव वे रस के धर्म और कार्य दोनों ही हैं। पण्डितराज की ताकिक बुद्धि ने इस मन्तव्य को असिद्ध घोषित किया क्योंकि धर्म और कार्य की स्थिति अभिन्न नहीं होती : उष्णता अनल का धर्म है, दाह कार्य है—उष्णता की स्थिति दाह के बिना भी सिद्ध है अतएव दोनों को अभिन्न नहीं माना जा सकता। ऐसी दशा में गुण रस का धर्म और कार्य कैसे हो सकता है ? विश्वनाथ की स्थापना तो और भी असंगत है—यदि गुण रस से अभिन्न

है तो उसकी पृथक् सत्ता क्यों मानी जाये ? पण्डितराज ने इन दोनों का खंडन करते हुए मम्मट के दृष्टिकोण को आंशिक रूप में स्वीकार किया । मम्मट ने गुण और चित्तवृत्ति को एक नहीं माना—उन्होंने गुण को कारण और चित्तवृत्ति को कार्य माना है । जगन्नाथ इनमें प्रयोजक-प्रयोज्य सम्बन्ध मानते हैं : गुण प्रयोजक है और चित्तवृत्ति प्रयोज्य—प्रयोजक और प्रयोज्य सम्बन्ध से दोनों को एक भी माना जा सकता है : प्रयोजकता सम्बन्धेन द्रुत्यादिकम एव वा माधुर्यादिकमस्तु । रसगंगाधर पृ० १५ । यह विवेचन भी निर्भ्रान्त नहीं है । एक ओर तो पण्डितराज गुण को वस्तु रूप में ही रस और शब्दार्थ दोनों का धर्म मानते हैं और दूसरी ओर प्रयोजक-प्रयोज्य सम्बन्ध से उसे चित्तवृत्ति रूप भी मानते हैं । रसधर्म होने के नाते तो गुण चित्तवृत्ति रूप अवश्य हो सकता है । परन्तु शब्दार्थ का धर्म होने के नाते यह सम्भव नहीं है—क्योंकि द्रुति आदि चित्तवृत्तियों की आह्लादरूप रस में तो स्थिति सम्भव है, परन्तु शब्द और अर्थ में उनकी अवस्थिति कैसे मानी जा सकती है ?

वास्तव में संस्कृत साहित्य-शास्त्र में गुण की स्थिति पूर्णतया स्पष्ट नहीं है । काव्य में उसकी पृथक् सत्ता स्वीकार करने में भी यत्किंचित् संदेह अंत तक बना रहता है । फिर भी उसकी सत्ता निरपवाद रूप से मानी ही गई है और उसका एक साथ निषेध करना अधिक संगत न होगा ।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो रस और गुण दोनों ही मनःस्थितियां हैं (इस विषय में अभिनव, मम्मट आदि सभी सहमत हैं) । रस वह आनन्दरूपी मनःस्थिति है, जिसमें हमारी सभी वृत्तियां अन्वित हो जाती हैं और यह स्थिति अखण्ड है । उधर गुण भी मनःस्थिति है, जिसमें कहीं चित्त-वृत्तियां द्रवित हो जाती हैं, कहीं दीप्त और कहीं परव्याप्त । यहां तक तो कोई कठिनाई नहीं है । यह भी ठीक है कि विशेष भावों में और विशेष शब्दों में भी चित्त-वृत्तियों को द्रवित अथवा दीप्त करने की शक्ति होती है । उदाहरण के लिए मधुर वणों को सुनकर और प्रेम, करुणा आदि भावों को ग्रहण कर हमारे चित्त में एक प्रकार का विकार पैदा हो जाता है, जिसे तरलता के कारण द्रुति कहते हैं । और महाप्राण वणों को सुनकर एवं वीर और रौद्र आदि भावों को ग्रहण कर हमारे चित्त में दूसरे प्रकार का विकार हो जाता है जिसे विस्तार के कारण दीप्ति कहते हैं । परन्तु इन विकारों को पूर्णतः आह्लाद रूप नहीं कह सकते । यहां काव्य (वस्तु) भावकत्व की स्थिति को पार करके भोजकत्व की ओर बढ़

रहा है। अभी उसमें वस्तु-तत्त्व निःशेष नहीं हुआ, और स्पष्ट शब्दों में हमारा चित्त वृत्तियां उत्तेजित होकर अन्विति की ओर बढ़ रही हैं। अभी इनमें पूर्ण अन्विति की स्थापना नहीं हुई, क्योंकि तब तो रस का परिपाक ही हो जाता। जैसा भट्ट नायक ने एक जगह संकेत किया है, यह काव्य के भाजकत्व की एक प्रारम्भिक स्थिति है, जो पूर्ण रसत्व की पूर्ववर्ती है। अतएव गुण को अनिवार्यतः आह्लाद रूप न मान कर केवल चित्त की एक दशा ही माना जाय, तो उसे सरलता से रस-परिपाक की प्रक्रिया में रस-दशा से ठीक पहली स्थिति माना जा सकता है जहाँ हमारी चित्त-वृत्तियां पिघलकर, दीस होकर, या परिव्याप्त होकर अन्विति के लिए तैयार हो जाती हैं।

भाविते च रसे तस्य भोगः। योऽनुभाव-स्मरण-प्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुति-विस्तार-विकासनामा रजस-तमो-वैचित्र्याननुविद्ध-सत्त्वमयनिज-चित्-स्वभाव-निवृत्ति-द्रुति-विश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसचिवः ॥

(लोचन के पृ० ६८ पर उद्धृत)

गुणों की संख्या :— भरत ने गुणों की संख्या दस मानी है और उनका वर्णन इस क्रम से किया है :

श्लेषः प्रसादः समता समाधिः
माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च
कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते।

दण्डी ने भी ये ही दश गुण माने हैं—उनका क्रम थोड़ा भिन्न है :

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ॥

परन्तु इन क्रमों के पीछे कदाचित् छंद का ही आग्रह है—इसके अतिरिक्त सापेक्षिक महत्वादि का आधार मानना संगत नहीं होगा। दण्डी की अनेक परिभाषाएं भरत से भिन्न हैं—उनके समाधि, कान्ति आदि गुणों का तो भरत के समाधि, कान्ति आदि से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। वामन ने भी इन दश गुणों को ही ग्रहण किया है : परन्तु उन्होंने प्रत्येक गुण के शब्द-गुण और अर्थ-गुण—दो भेद माने हैं। इस प्रकार वामन की गुणसंख्या बीस

हो जाती है : दश शब्द-गुण और दश अर्थ-गुण । यह प्रेरणा उन्हें भरत से ही मिली है क्योंकि भरत ने दश गुण मानते हुए भी उनमें से अनेक के दो दो लक्षण दिये हैं—जो प्रायः, जैसा कि अभिनवगुप्त ने माना है, शब्द-गुण और अर्थ-गुण का ही संकेत करते हैं । वामन के पश्चात् भोज ने गुण-संख्या में और वृद्धि की है—और २४ गुणों का वर्णन किया है । उन्होंने तीन प्रकार के गुण माने हैं : बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक । इनमें से बाह्य गुण शब्द-गुण के ही नामान्तर हैं, आभ्यन्तर गुण अर्थगुण हैं, वैशेषिक गुण भावात्मक नहीं है—वे सामान्य रूप से दोष हैं—परन्तु विशेष संदर्भ में गुण बन जाते हैं । भोज ने उपर्युक्त प्रत्येक वर्ग में भी २४ गुण माने हैं—इस प्रकार उनके अनुसार पूर्ण योग ७२ हो जाता है । भोज ने भरत, दण्डी तथा वामन के दश गुण तो थोड़े-बहुत लक्षण-भेद के साथ प्रायः यथावत् स्वीकार कर लिये हैं—परन्तु साथ ही लगभग इन्हीं के भेद-रूप चौदह नवोन गुणों की उद्भावना कर डाली है ।

नवीन शब्द-गुण तथा अर्थ-गुण (बाह्य तथा आभ्यन्तर) :—

उदात्तता, और्जीत्य, प्रेयस्, सुशब्दता, सौचम्य, गांभोर्य, विस्तार, संक्षेप, सम्मितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति तथा प्रौढि ।

वैशेषिक गुण :—असाधु (अनुकरण में), अप्रयुक्त (अनुकरण में), कष्ट (दुर्वाचनादि में), अनर्थक (यमकादि अलंकारों में), अन्यार्थ (प्रहेलिका आदि में), अपुष्टार्थ (छन्द-पूर्ति में), असमर्थ (कामशास्त्र आदि में), अप्रतीत (विशिष्ट विद्या-विशारदों के सम्भाषणादि में), विलष्ट (व्याख्यानादि में—जहां गूढ़ार्थ का स्पष्ट संकेत होता है), नेयार्थ (प्रहेलिका आदि में), सदिग्ध (प्रसंग आदि के कारण आशय स्पष्ट हो जाने पर), विरुद्ध (इच्छापूर्वक प्रयुक्त किये जाने पर, जहां विपरीत—प्रकल्पना ही अभीष्ट हो), अप्रयोजक (अप्रयोजक विशेषण के अपने आप में सुन्दर होने के कारण), देश्य (महाकवियों द्वारा प्रयुक्त होने पर), ग्राम्य (घृणावत्, अश्लील तथा अमंगल रूप ग्राम्य दोष क्रमशः संवित अर्थात्—सहज भाव से स्वीकृत, गुप्त और लक्षित होने पर गुण बन जाता है) ।—ये गुण १६ हैं, परन्तु भोज ने ग्राम्य के घृणावत्, अश्लील तथा अमंगल रूपों के तीन तीन भेद और किये हैं ।—इस प्रकार वैशेषिक गुणों का सर्वयोग भी २४ हो जाता है । इनके अतिरिक्त वाक्य और वाक्यार्थ दोषों पर आश्रित चौबीस चौबीस वैशेषिक गुण और भी हैं ।

अग्निपुराण में गुणों की संख्या २४ से घटकर १८ रह गई। उसमें
 णों के तीन वर्गों का उल्लेख है : शब्द-गुण, अर्थ-गुण और उभय गुण ।
 द्-गुण ६ हैं—श्लेष, लालित्य, गांभीर्य सुकुमारता, औदार्य, तथा ओजस् ।
 र्थ-गुण भी ६ हैं—माधुर्य, संविधान, कामलता, उदारता, प्रौढ़ि तथा
 ामयिकता । ६ उभय गुण इस प्रकार हैं : प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य,
 शस्त्य, पाक, और राग ।

गुणों की संख्या में एक ओर जहां वृद्धि हो रही थी—वहां दूसरी
 ओर गंभीर रुचि के आचार्यों का ओर से उन्हें वैज्ञानिक आधार पर नियमित
 करने का सत्प्रयत्न भी किया जा रहा था । काव्य-शास्त्र के आरम्भिक युग
 ही भामह ने केवल तीन गुणों का अस्तित्व स्वीकार किया था—बाद में
 अब ध्वनि-रसवादियों ने काव्य के सभी अंगों का पुनराख्यान किया तो भामह
 ये तीन गुण ही मान्य हुए । गुणों को जब रस-धर्म मान लिया गया तो
 नका रूप बाह्य तथा मूर्त न रह कर आन्तरिक हो गया—वे चित्तवृत्ति रूप
 ाने गये । काव्यास्वादन की स्थिति में चित्त की तीन अवस्थाएं होती हैं :
 ुत्ति, दीप्ति और व्यापकत्व—गुण भी तदनुसार तीन ही हुए माधुर्य, ओज
 और प्रसाद । भामह और उनके उपरान्त आनन्दवर्धन, अभिनव तथा मम्मट
 ादि ने इन्हीं को ग्रहण किया है ।

कुन्तक ने परम्परा से कुछ हटकर गुण-विवेचन किया है । उन्होंने कवि-
 वभाव को प्रमाण मानते हुए सुकुमार, विचित्र और मध्यम तीन काव्य-मार्ग
 और उनमें से प्रत्येक के चार विशेष और दो सामान्य गुणों का निरूपण किया
 । सामान्य गुण काव्य के अनिवार्य गुण हैं—उनके अभाव में काव्य काव्य
 हीं रहता अतएव तीनों मार्गों में उनकी स्थिति समान रूप से रहती है ।
 सामान्य गुण हैं : औचित्य और सौभाग्य—औचित्य का अर्थ है यथोचित
 वेधान और सौभाग्य का अर्थ है चेतना को चमत्कृत करने का गुण
 जमका मूल आधार है प्रतिभा । इनके अतिरिक्त चार विशिष्ट गुण हैं जिनके
 वरूप प्रत्येक गुण में भिन्न भिन्न रहते हैं—ये हैं : माधुर्य, प्रसाद, लावण्य
 और आभिजात्य । इस प्रकार कुन्तक के अनुसार गुणों की संख्या ६ है ।

विवेचन :— भेद-प्रभेदों का प्रस्तार अपने आप में कोई मौलिक
 ङ्गावना नहीं है । भोज ने गुण-क्षेत्र में संख्या-वृद्धि कर कोई विशेष सिद्धि
 ाप्त नहीं की । उन्होंने गुण-विवेचन को अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक बनाने

के स्थान पर और भी उलझा दिया । और तथ्य यह है कि काव्य-शास्त्र की परम्परा में उनके गुण-विस्तार को विशेष महत्व कभी नहीं मिला । परवर्ती विद्वानों ने या तो भामह तथा आनन्दवर्धन आदि के अनुसरण पर केवल तीन गुणों की ही सत्ता स्वीकार की - या फिर अधिक से अधिक भरत, दण्डी तथा वामन के दश-गुणों को मान्यता दी । वास्तव में भोज और अग्निपुराण का गुण-विवेचन अत्यन्त अपुष्ट तथा बहुत कुछ अनर्गल-सा है । उनके अनेक गुण तो मान्य भेदों के प्रभेद मात्र हैं, कुछ केवल अलंकार ही हैं । कुछ-एक में ध्वनि का सकेत है, प्रेयस् और और्जीत्य पूर्व-ध्वनि काल के आचार्यों के अनुसार अलंकार और उत्तर-ध्वनि काल के आचार्यों के अनुसार रसभाव हैं । भोज ने प्रायः दण्डी और वामन के गुण-विवेचन के आधार पर तथाकथित नवीन उद्भावनाएं कर डाली हैं—कभी वे एक से लक्षण और दूसरे से नाम ग्रहण कर लेते हैं—और कभी किसी एक गुण के वैकल्पिक रूपों को नये नाम दे देते हैं जैसे वामन की अर्थ-प्रौढ़ि के तीन रूपों को उन्होंने तीन स्वतन्त्र गुणों का रूप दे दिया है । इसके अतिरिक्त उनकी उद्भावनाओं के पीछे कोई तर्क अथवा संगति भी नहीं है । भोज के शब्द-गुण गांभीर्य, प्रौढ़ि, और्जीत्य तथा प्रेयस् स्पष्टतः ही अर्थ के चमत्कार हैं, इसी प्रकार कतिपय गुण ऐसे हैं जिनका सौन्दर्य शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित है, परन्तु उन्हें भोज ने मनमाने ढंग से शब्द-गुण या अर्थ-गुण की श्रेणी में डाल दिया है । वास्तव में शब्द और अर्थ का स्पष्ट पार्थक्य बहुत दूर तक निभाना कठिन होता है । वामन दश गुणों में ही बुरी तरह असफल रहे हैं, फिर भोज चौबीस गुणों में उसका निर्वाह किस प्रकार करते ? इस पार्थक्य का आधार है आश्रय-आश्रयी-भाव परन्तु वह स्वयं असिद्ध रहता है—और भोज ने तो यह आधार भी विधिवत् ग्रहण नहीं किया । अतएव उनका विवेचन अत्यन्त असंगत एवं अनर्गल हो गया है । अग्निपुराण के भेद-प्रभेदों के विषय में भी यही कहा जा सकता है, उसका विवेचन और भी अस्पष्ट है । पहले तो शब्द-गुण अर्थ-गुण तथा उभय गुण के वर्ग ही प्रामाणिक नहीं हैं : शब्द और अर्थ के चमत्कार प्रायः एक दूसरे की सोमा का उल्लंघन कर बैठते हैं, और फिर उभय गुणों का पृथक् वर्ग तो अपनी स्वतन्त्र सत्ता की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ ही है । पुराणकार ने दण्डी, वामन और भोज के विवेचन को केवल उलझा कर रख दिया है ।

सारांश यह है कि भोज के चौबीस या बहत्तर और अग्निपुराण के अठारह गुण काव्य-मर्मज्ञों का ध्यान आकृष्ट करने में असमर्थ ही रहे। वास्तविक विवाद रहा वामन के दशगुणों और आनन्दवर्धन के तीन गुणों के बीच। जैसा कि मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है वामन और आनन्दवर्धन का विवाद संख्या के विषय में मूलतः नहीं है—यह विवाद गुण के स्वरूप, अथवा उसके भी आगे काव्य के स्वरूप में सम्बद्ध है। वामन के गुण शब्द-अर्थ के धर्म होने के नाते रीति-चमत्कार हैं। आनन्दवर्धन के गुण रस के धर्म होने के नाते चित्तवृत्ति-रूप हैं। अतएव स्वभावतः वामन के गुणों का आधार मूर्त और संकीर्ण है, आनन्दवर्धन के गुणों का आधार सूक्ष्म और व्यापक है जिसके परिणामस्वरूप वामनीय गुणों की संख्या भी अधिक है। ध्वनिवादियों ने माधुर्य, ओज और प्रसाद—केवल ये तीन गुण ही माने हैं। उनका तर्क है कि रसानुभूति की प्रक्रिया में चित्त की तीन अवस्थाएं होती हैं—द्रुति, दीप्ति तथा व्यापकत्व : शृङ्गार, करुण आदि के आस्वादन में चित्त द्रवीभूत तथा वीर रौद्रादि के अनुभव में दीप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त सभी रसों की अनुभूति के समय चित्त की एक और अवस्था होती है जिसे समर्पकत्व या व्यापकत्व कहा जा सकता है, जो रसप्रतीति का सहज परिणाम होती है। इन्हीं चित्तवृत्तियों के तद्रूप होने के कारण, गुण भी केवल तीन ही होते हैं—द्रुति का प्रतीक माधुर्य, दीप्ति का ओज और व्यापकत्व का प्रसाद। रसानुभूति की प्रक्रिया में चित्त की केवल ये ही तीन अवस्थाएं होती हैं अतएव तीन में अधिक गुणों की कल्पना निराधार है। मम्मट ने सिद्ध किया है कि वामन की दश-गुण-कल्पना भी वास्तव में किसी पुष्ट आधार पर स्थित नहीं है, अतिरिक्त गुण या तो इन्हीं तीनों में अन्तर्भूत हो जाते हैं, या वे दोषाभाव मात्र हैं, अथवा अलंकार हैं या फिर उक्ति-वैचित्र्य मात्र।

वामन के शब्द गुण आज, श्लेष, समाधि, उदारता, तथा प्रसाद प्रसिद्ध ओज गुण में अन्तर्भूत हो जाते हैं, माधुर्य माधुर्य में और अर्थव्यक्ति प्रसाद में। ओज का लक्षण है गाढ़-बन्धत्व, श्लेष में अनेक पद एक पद जैसे प्रतीत होते हैं, प्रसाद में पद-रचना ओज मिश्रित शैथिल्य-युक्त होती है, समाधि में अर्रोह-अवरोह-क्रम रहता है, उदारता में भी बन्ध-विकटत्व रहता है—उसमें पद नृत्य-सा करते हैं। स्पष्टतः ये सभी विशेषताएं प्रसिद्ध ओज गुण के लक्षण

के अन्तर्गत आजाती हैं—ओजोदीप्त वाणी में गाढ़बन्धत्व, विकटबन्धत्व, आरोह-अवरोह आदि विशेषताओं का समावेश स्वभाव से ही हो जाता है—अतएव उसी के विभिन्न रूप होने के कारण ये सभी ओज के अंतर्गत आ जाते हैं। वामन के शब्द-गुण माधुर्य का स्वरूप है पृथक्-पदत्व जो प्रसिद्ध माधुर्य का भी बाह्य तत्व है। अर्थव्यक्ति, जिसमें पद तुरंत ही अपने अर्थ के प्रति समर्पण कर देते हैं, प्रसाद का प्रसिद्ध लक्षण है। समता में एक ही मार्ग अथवा पद-रचना-शैली का आरम्भ से अंत तक अवलम्बन रहता है, परन्तु यह गुण तो एकरसता के कारण विरस भाव उत्पन्न करता हुआ दोष बन जाता है। अपरुष-बन्ध-रूप सौकुमार्य कष्टत्व अथवा श्रुतिकटु दोष का अभावरूप है और पद-ओज्ज्वल्य-रूप कांति ग्राम्यत्व दोष का निषेध मात्र है। वामन के अर्थ-गुणों की भी यही स्थिति है। अर्थ-प्रौढ़ि रूप ओज जिसमें एक शब्द के लिए सम्पूर्ण वाक्य का प्रयोग, सम्पूर्ण वाक्य के लिए एक शब्द का प्रयोग, व्यास, समास, तथा साभिप्राय-विशेषण प्रयोग होता है कथन का प्रकार अथवा उक्ति-वैचित्र्य मात्र है। इसी प्रकार अनेक विचारों का संघटन रूप अर्थ-गुण श्लेष भी कथन का ही वैचित्र्य है, गुण नहीं है। ये दोनों भावात्मक गुण नहीं हैं। वामन के पाँच अर्थ-गुण प्रसाद, माधुर्य, उदारता, सौकुमार्य और समता केवल दोषाभाव है। अर्थ-वैमल्य-रूप प्रसाद—जहां आवश्यक का ग्रहण और अनावश्यक का त्याग रहता है—अधिकपदत्व दोष का निषेधमात्र है। अर्थ-गुण माधुर्य उक्ति-वैचित्र्य का नाम है—परन्तु उक्ति-वैचित्र्य तो काव्य-शैली का अनिवार्य लक्षण है, उसके अभाव में रचना अनवीकृत दोष से दूषित रहती है। ऐसी स्थिति में उसे भावात्मक गुण नहीं माना जा सकता—वह अनवीकृत दोष का निषेध मात्र है। उदारता का तो लक्षण ही ग्राम्यत्व का अभाव है—इसलिए उसे ग्राम्यत्व नामक दोष का अभाव ही मानना संगत है। सौकुमार्य भी पारुष्य का अभाव रूप है—पारुष्य का अर्थ है अप्रिय अथवा अमंगल—यहां अमंगल-वाचक शब्दों के परिहार द्वारा अमंगल तथ्य के पारुष्य का परिहार किया जाता है। अतएव यह भी अमंगलरूप अश्लील दोष का अभाव ही सिद्ध होता है। अर्थ के अवैषम्य अथवा क्रम के अभंग को अर्थ-गुण समता कहते हैं जो प्रक्रम-भंग दोष का अभाव है। अर्थव्यक्ति जहां वस्तुओं के स्वभाव की अभिव्यक्ति होती है—स्वभावोक्ति अलंकार से अभिन्न है। रस से दीप्त कान्तिगुण रसध्वनि आदि में अन्तर्भूत हो जाता है, और अर्थगुण समाधि तो कोई गुण ही नहीं है। वामन के अनुसार समाधि नामक अर्थगुण के द्वारा अर्थ-दर्शन

होता है अर्थात् चित्त के एकाग्र होने से वास्तविक अर्थ प्रकट हो जाता है। परन्तु यह तो काव्य के रसास्वादन की पहली शर्त है, अर्थ-दर्शन के बिना तो न रस है, न गुण, न रीति। वैसे भी अर्थ-दर्शन गुण कैसे हो सकता है ?

मम्मट ने वामन के दश-गुण-विवेचन का लगभग इसी प्रकार खण्डन करते हुए, केवल तीन गुणों का ही अस्तित्व सिद्ध किया है। मम्मट का यह व्याख्यान प्रायः युक्तियुक्त ही है—इससे असहमत होने का कोई विशेष कारण नहीं है।

वास्तव में भेद-प्रस्तार का तो कोई अंत ही नहीं हो सकता। वर्गीकरण अथवा वर्ग-विभाजन सर्वथा निर्दोष प्रक्रिया नहीं है—फिर भी उसका एक मूल सिद्धान्त यह है कि समान गुणशील इकाइयों का वर्ग में अन्तर्भाव होते रहना चाहिए। वर्ग जाति का प्रतिरूप है व्यक्ति को जाति से तभी पृथक् नाम-रूप देना चाहिए जब उसका स्वरूप इतना व्यापक और महत्वपूर्ण हो जाए कि वह अपने आप में एक जाति या उपजाति का ही वाचक बन जाए। भारतीय काव्यशास्त्र में, भेद-प्रस्तार करते समय अनेक हल्की रुचि के आचार्यों ने इस मूल सिद्धांत की प्रायः उपेक्षा कर दी है—जिससे उनकी उद्भावनाएं अनावश्यक और असंगत हो गई हैं। गंभीर आचार्यों को इसीलिए, समय समय पर इस प्रस्तार प्रवृत्ति को नियंत्रित करने का प्रयत्न करना पड़ा है। भामह, आनन्द-वर्धन, अभिनव, मम्मट आदि गहनचेता विचारकों का सबसे महत्वपूर्ण योग यही रहा है कि उन्होंने विस्तार-प्रस्तार की उपेक्षा नियमन तथा समंजन का प्रयत्न ही अधिक किया है।

अतएव, अन्त में पूर्व-ध्वनि काल के दशगुणों और उत्तरध्वनिकाल के तीन गुणों में—ये पिछले तीन गुण ही मान्य हुए : माधुर्य, ओज और प्रसाद—जो क्रमशः चित्त की द्रुति, दोषि और व्यापकत्व के तद्रूप हैं। इनमें प्रसाद तो चित्त की निर्मलता की—समरसता की स्थिति है जो सभी रसों के आस्वादन के लिए अनिवार्य है। हमारा मन जब तक निर्मल अथवा समरस नहीं होगा तब तक रसानुभूति सम्भव नहीं है—कामातुर व्यक्ति शृङ्गार रस का आस्वादन नहीं कर सकता, भयभीत व्यक्ति भयानक रस की प्रतीति करने में असमर्थ रहेगा, क्रुद्ध अथवा शोकविह्वल नर-नारी रौद्र या करुण का आनन्द नहीं ले सकते। चित्त की इसी निर्मलता को आनन्दवर्धन ने समर्पकत्व अथवा व्यापकत्व कहा है और इसी के आधार पर प्रसाद गुण को

शब्द और अर्थ को स्वच्छता रूप माना है : प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः । यह स्वच्छता—बाह्य रूप में शब्द और अर्थ की, और आन्तर रूप में चित्त की स्वच्छता—सर्व-रस-साधारण क्रिया है, इसके बिना रसानुभूति सम्भव नहीं है ।

समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति ।

स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥

अर्थात् (शुष्केन्धन में अग्नि के समान, अथवा स्वच्छ वस्त्र में जल के समान) काव्य का समस्त रसों के प्रति जो समर्पकत्व (बोद्धा के हृदय में भटिति व्यापन-कर्तृत्व) है, उसे समस्त रसों में और रचनाओं में (सर्वसाधारणी क्रिया वृत्तिः स्थितिः यस्य सः) रहने वाला प्रसाद गुण समझना चाहिए ।

(हिन्दी ध्वन्यालोक २, १० पृ० १३८)

इस प्रकार प्रसाद तो सामान्य अथवा साधारण गुण है । अब शेष रह जाते हैं माधुर्य और ओज । मानव-स्वभाव की सामान्यतः दो मूल प्रवृत्तियाँ ही लक्षित होती हैं—कोमल और परुष, अथवा मधुर और ऊर्जस्वत् इन्हीं दोनों को विभिन्न मात्राओं के मिश्रण से मानव-मन के असीम वैचित्र्य का निर्माण होता है : मौलिक प्रवृत्तियाँ ये ही दो रहती हैं । कुन्तक ने इसी आधार पर कवि-स्वभाव दो प्रकार के माने हैं : सुकुमार और विचित्र जा इन्हीं दो के भिन्न नाम हैं । माधुर्य और ओज इन्हीं दो प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं । इन दो प्रवृत्तियों के अतिरिक्त अन्य प्रवृत्तियों की कल्पना अनावश्यक है क्योंकि वे सभी प्रवृत्तियाँ इन्हीं दो के मिश्रण से ही निर्मित हैं—रति तथा शोक कोमल वृत्तियाँ हैं, हास्य भी अपने सहज रूप में कोमल वृत्ति ही है—उत्साह और क्रोध परुष हैं—भय आश्रय की दृष्टि से कोमल और आलम्बन की दृष्टि से परुष है जुगुप्सा और अद्भुत में दोनों का मिश्रण (अद्भुत में कुछ आचार्य केवल दीप्ति—भी मानते हैं) शान्त में दोनों का संतुलन या सामरस्य है ।

गुण के स्वरूप को और भी स्पष्ट करने के लिए कतिपय समानधर्मा तत्त्वों से उसका पार्थक्य-प्रदर्शन उपयोगी होगा ।

गुण और रीति :— सबसे पूर्व गुण और रीति को ही लीजिए । गुण और रीति के परस्पर-सम्बन्ध का विवेचन किया जा चुका है । दण्डी

ने गुण को रीति का मूल तत्व माना है। वामन ने इस सम्बन्ध को और भी दृढ़ करते हुए लिखा है : विशिष्टा पद-रचना रीतिः । विशेषो गुणात्मा । १,२,७-८ । अर्थात् रीति का वैशिष्ट्य गुणात्मक है । इस सूत्र का आगे चल कर आनन्दवर्धन ने व्याख्यान किया है । उन्होंने तीन विकल्प उपस्थित किये हैं :

गुणों का और संघटना (रीति) का ऐक्य है अथवा व्यक्तिरेक अर्थात् अभेद है अथवा भेद । व्यक्तिरेक में भी दो मार्ग हैं : गुणाश्रित संघटना (है) अथवा संघटनाश्रित गुण (है) ^१ ।

अर्थात् १. क्या रीति और गुण अभिन्न हैं ?

२. क्या रीति गुणाश्रित है ?

३. क्या गुण रीति-आश्रित हैं ?

यों तो आनन्दवर्धन से पूर्व भी इस विषय का विवेचन हो चुका था । वामन ने रीति और गुण को अभिन्न माना था—और उद्भट ने गुण को रीति-आश्रित । परन्तु ये अभिमत आनन्दवर्धन को मान्य नहीं हुए उन्होंने अपने ढंग से इन विकल्पों का उत्तर दिया । “यदि गुण और संघटना (रीति) एक तत्व हैं, अथवा संघटना (रीति) के आश्रित गुण रहते हैं तो संघटना के समान गुणों का भी अनियत-विषयत्व हो जाएगा । गुणों का तो विषय-नियम निश्चित है । जैसे, करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार में ही माधुर्य और प्रसाद का प्रकर्ष (होता) है, ओज रौद्र और अद्भुत विषय में (ही प्रधानतः रहता है) । माधुर्य और प्रसाद रस, भाव और तदाभास विषयक ही होते हैं । इस प्रकार (गुणों का) विषय नियम बना हुआ है । (परन्तु) संघटना में वह बिगड़ जाता है । क्योंकि शृङ्गार में भी दीर्घसमासा (रचना-संघटना) पाई जाती है और रौद्रादि रसों में भी समास-रहित (रचना पाई जाती है) । + + + इसलिए गुण न तो संघटना-रूप हैं और न संघटनाश्रित हैं ।

इस प्रकार पहले दोनों विकल्पों का आनन्दवर्धन खण्डन कर देते हैं ।—रीति और गुण एक नहीं है, इसमें तो कोई विशेष आपत्ति नहीं है : रीति (पद) रचना है और गुण उसको अनुप्राणित करने वाला तत्व, अतएव इन दोनों का अभेद सम्भव नहीं है । परन्तु गुण किसी रूप में भी रीति के आश्रित नहीं है—यह प्रश्न विचारणीय है । आनन्दवर्धन का तर्क निस्संदेह

ही संगत है—रीति के आश्रित होने से गुण भी अनियत-विषय हो जाएगा जबकि गुण का विषय नियत है, रीति का अनियत। शृङ्गार रस में गुण तो माधुर्य ही हो सकता है—ओज नहीं हो सकता, परन्तु रीति दीर्घसमासा भी हो सकती है : इसी प्रकार रौद्र में केवल ओज गुण ही होगा, परन्तु रीति असमासा या लघुसमासा भी हो सकती है। यह युक्ति आंशिक रूप में ही सत्य है क्योंकि एक तो संघटना या रीति केवल समासाश्रित ही नहीं है, वर्णाश्रित भी है—इसका स्पष्टीकरण मम्मट, विश्वनाथ आदि ध्वनि-रसवादियों ने आगे चलकर किया है। समास की अपेक्षा वर्णों को अनियत विषय मानना थोड़ा कठिन है। परन्तु यहां भी कोई अकाट्य नियम नहीं है—कथित कठोर वर्णों का प्रयोग होने पर भी भाव की तीव्रता के द्वारा शृङ्गारादि रसों का परिपाक सम्भव है, अनुभव-गम्य है। फिर भी इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता कि दीर्घसमास और कठोर वर्ण शृङ्गारादि रसों के और असमास रचना तथा कोमल वर्ण रौद्रादि-रसों के परिपाक में बाधक होते हैं। कठोर वर्ण और दीर्घ समास शृङ्गार रस की द्रुति में विघ्नकारी होते हैं, समासहीन पृथक् पद तथा कोमल वर्णों से रौद्र की दीप्ति का पूर्ण विकास नहीं हो पाता, यह मनोविज्ञान का तथ्य सहृदय के प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। स्वयं आनन्द ने भी इसको मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है।

तीसरा विकल्प है : क्या रीति गुण के आश्रित है ? इसका उत्तर आनन्दवर्धन स्वीकारात्मक देते हैं। उनकी संघटना की परिभाषा में ही वह निहित है : गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्। आनन्दवर्धन का पक्ष सर्वथा ग्राह्य है, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं। रीति गुण के आश्रित है,—शब्द-गुम्फ, वर्ण-गुम्फ—रूपिणी पद-रचना का स्वरूप माधुर्य, ओज आदि के द्वारा ही निर्धारित होता है। रीति का मुख्य कार्य है रस की अभिव्यक्ति करना, और रस की अभिव्यक्ति वह प्रत्यक्ष रूप से नहीं कर सकती गुण के आश्रय से ही कर सकती है। वह माधुर्य, ओज और प्रसाद के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त करनी हुई रस-दशा तक पहुँचाने में सहायक होती है। अतएव आनन्दवर्धन के पक्ष को स्वीकार करने में तो कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती। रीति गुण के आश्रित है—इसमें सन्देह नहीं, परन्तु गुण भी रीति-निरपेक्ष नहीं है। उपचार से तो आनन्द भी यह मान लेते हैं।

निष्कर्ष यह है कि रीति और गुण एक नहीं है—परन्तु उनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। दोनों में गुण का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक है—

मूलतः रीति उसी के आश्रित रहती है। परन्तु गुण भी रीति से अप्रभावित नहीं रहता : रीति के वर्ण-गुम्फ और शब्द-गुम्फ चित्त की द्रुति, दीप्ति और परिव्याप्ति के निश्चय ही साधक अथवा बाधक हो सकते हैं। ✓

गुण और अलंकार :— आरम्भ में गुण और अलंकार के विषय में भ्रान्ति रही। वामन से पूर्व इनका पृथक् निर्देश तो भरत, दण्डी तथा भामह आदि सभी आचार्यों ने किया है, परन्तु इन दोनों का तात्त्विक भेद किसी ने स्पष्ट नहीं किया।

वामन ने पहली बार इस मर्म का स्पर्श किया। उन्होंने अपने सिद्धान्त के अनुसार निर्भ्रान्त रूप में दोनों का पार्थक्य स्पष्ट कर दिया।
“गुण : काव्य-शोभा के कारक (विधायक) धर्म गुण हैं।”

काव्य-शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।

अलंकार : काव्य-शोभा के अतिशयहेतु (वृद्धिकारक धर्म) अलंकार हैं :

तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।

अपने मत को वृत्ति द्वारा और स्पष्ट करते हुए वामन ने लिखा है : शब्दार्थ के जो धर्म काव्य-शोभा (की सृष्टि) करते हैं वे गुण हैं। ये गुण हैं ओज प्रसादादि, यमक-उपमादि नहीं। क्योंकि यमक-उपमादि अकेले ही काव्य-शोभा का सृजन नहीं कर सकते—इसके विपरीत ओज प्रसादादि अकेले ही काव्य को शोभा-सम्पन्न कर सकते हैं।

+ + + +

इस प्रसंग में दो श्लोक हैं :

शुद्ध गुण काव्य युवती के सहज रूप के समान आकर्षक लगता है, और अलंकार-सज्जा से वह और भी बढ़ जाता है।

(किन्तु) यदि वाणी गुणों से रहित है तो उसकी स्थिति यौवनविहीना स्त्री के समान है जो सुन्दर अलंकार धारण कर और भी अपकर्षक हो जाती है।

गुण निर्य हैं। उनके बिना काव्य में शोभा नहीं आ सकती।

अतएव वामन के अनुसार गुण और अलंकार की पारस्परिक स्थिति इस प्रकार है :

साम्य

१. गुण और अलंकार दोनों ही शब्द अर्थ के धर्म हैं ।

२. दोनों का कर्म भी प्रायः समान है—अर्थात् दोनों काव्य का उत्कर्ष-साधन करते हैं ।

वैषम्य

परन्तु १. गुण शब्द-अर्थ के नित्य धर्म हैं, अलंकार अनित्य ।

२. गुण काव्य-शोभा का सृजन करते हैं अलंकार केवल उसकी श्रीवृद्धि ।

३. गुण के अभाव में काव्य-सौन्दर्य का अस्तित्व ही नहीं होता, परन्तु अलंकार के अभाव में गुण का सद्भाव होने पर काव्य-शोभा बनी रहती है ।

४. गुण के अभाव में अलंकार का सद्भाव काव्य का उल्टा अपकर्ष करता है ।

वामन का यह पार्थक्य-प्रदर्शन उनके अपने सिद्धान्त के अनुसार सर्वथा स्पष्ट और निर्भ्रान्त है । परन्तु सिद्धान्त-भेद हो जाने से ध्वनिवादियों ने इसे केवल आंशिक रूप में ही स्वीकार किया—मूलतः उन्होंने इसे अपूर्ण ही माना । गुण काव्य के नित्य धर्म हैं और अलंकार अनित्य—यह तो उन्हें स्वीकार्य है ।—गुण काव्य में अनिवार्य रूप से वर्तमान रहते हैं अलंकारों की स्थिति अनिवार्य नहीं है, यह तो ठीक है । परन्तु इसके आगे गुणों को भी शब्द-अर्थ के ही धर्म मानना रस-ध्वनिवादियों को ग्राह्य नहीं है । आनन्द-वर्धन के शब्दों में गुण-अलंकार का भेद इस प्रकार है :

‘जो उस प्रधानभूत (रस) अंगी के आश्रित रहने वाले (माधुर्यादि) हैं, उनको गुण कहते हैं और जो (उसके) अंग (शब्द तथा अर्थ) में आश्रित रहने वाले हैं उनको कटकादि के समान अलंकार कहते हैं ।’ (हिं० ध्वन्यालोक, २, ६) । अर्थात् गुण और अलंकार का मूलभेद यह है कि गुण प्राण-भूत रस के धर्म हैं, और अलंकार शरीरभूत शब्द-अर्थ के । अलंकारों की स्थिति कटक और आदि आभूषणों की सी है जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध देह से है ।

मम्मट ने इसी को स्पष्ट करते हुए लिखा है :

आत्मा के शौर्यादि गुणों की भाँति जो अंगभूत रस के उत्कर्षवर्धक
अचल-स्थिति धर्म हैं वे गुण कहलाते हैं ।

इसके विपरीत अलंकार शब्द अर्थ के धर्म हैं और वे अचल-स्थिति
नहीं हैं : सगुणावनलंकृतो पुनः क्वापि । —काव्य के लिए सगुणता अनिवार्य
है, परन्तु अलंकृति कभी नहीं भी होती ।

विश्वनाथ ने अलंकार की परिभाषा में ही यह भेद निहित कर दिया—
“शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः—अलंकार शब्द-अर्थ के शोभाति-
शायी अस्थिर धर्म हैं ।” गुण के समान उनकी स्थिति आवश्यक नहीं है :
अस्थिरा इति नैषां गुणवदावश्यकी स्थितिः (सा० दर्पण) ।

अतएव रस-ध्वनिवादियों के अनुसार गुण और अलंकार का भेद इस
प्रकार है :

(१) गुण प्राणभूत रस के धर्म हैं, अलंकार अंगभूत शब्द-अर्थ के ।

(२) स्वभावतः गुण काव्य के अतिरिक्त तत्त्व हैं—वे द्रुति, दीप्ति
आदि चित्तवृत्तियों के तद्रूप हैं, अलंकार बाह्य तत्त्व हैं ।

(३) रसानुभूति की प्रक्रिया में गुणों का योग प्रत्यक्ष रहता है । अलं-
कारों का अप्रत्यक्ष, वे वाच्य-वाचक का उपकार करते हुए व्यंग्य रस के परिपाक
में योग देते हैं ।

(४) अतएव गुण काव्य के नित्य धर्म हैं, अलंकार अनित्य ।

(५) रसादि अंतर्तत्त्वों की भाँति गुण व्यंग्य रहते हैं, अलंकार वाच्य ।

साधारणतः रस-ध्वनिवादियों का यह विवेचन ही मान्य रहा और
वास्तव में यही संगत भी है यद्यपि इसमें थोड़ा अतिवाद अवश्य है । वह
अतिवाद यह है कि इन्होंने गुण को सिद्धान्त में एकान्त रसधर्म मान लिया है ।
परन्तु जैसा कि हमने अन्यत्र सिद्ध किया है, और व्यवहार में रस-ध्वनिवादियों ने
भी माना है, गुण शब्द और अर्थ से सर्वथा असम्बद्ध नहीं हैं । इसी प्रकार
अलंकार भी मूलतः वाचक शब्द और वाच्य अर्थ के धर्म होते हुये भी व्यंग्य
अर्थ से सर्वथा असम्बद्ध नहीं होते । गुण चित्तवृत्ति रूप हैं, अलंकार वाणी के

प्रसाधन हैं अर्थात् अभिव्यंजना को प्रभावशाली बनाने के उपकरण हैं। परन्तु मूलतः चित्तवृत्ति रूप होने पर भी जिस प्रकार गुण गौण रूप में शब्द और अर्थ : वर्ण-गुम्फ और शब्द-गुम्फ, से भी सम्बन्ध रखते हैं इसी प्रकार मुख्य रूप में शब्द और अर्थ के धर्म—अभिव्यंजना के चमत्कार—होते हुए भी अलंकार गौण रूप में चित्त को भी चमत्कृत करते हैं। आंतरिक और बाह्य तत्त्व की यही सापेक्षिक प्रमुखता गुण और अलंकार का मुख्य अंतर है—गुण मूलतः काव्य के आंतरिक तत्त्व हैं, और अलंकार बाह्य।

दोष-दर्शन

दोषों का वर्णन संस्कृत साहित्य-शास्त्र में आरम्भ से ही मिलता है और आचार्यों ने प्रायः दोष-विवेचन पहले किया है, गुण-अलंकार-वर्णन बाद में। यह मानव-स्वभाव की सहज प्रवृत्ति का ही परिणाम है, इसीलिए आदि वैदिक ऋषि ने अपनी प्रार्थना में दुरित के परिहार की वांछा पहले की है और भद्र की कामना बाद में—विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव—यद्भद्रं तन्न आसुव। भारतीय काव्य-शास्त्र में भी दोष-वर्णन इतने आग्रह के साथ इसीलिए किया गया है क्योंकि दोष-परिहार को काव्य की पहली शर्त माना गया है। दण्डी ने प्रबल शब्दों में घोषणा की है कि काव्य में रंचमात्र दोष की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि एक छोटा सा भी कुष्ठ का दाग सुन्दर से सुन्दर शरीर को कुरूप कर सकता है। (काव्यादर्श, १, ७)। प्राचीन आचार्यों ने ही नहीं, उत्तर-ध्वनिकाल के आचार्यों ने भी निर्दोषता को काव्य-लक्षण का अनिवार्य अंग माना है। पूर्व-ध्वनिकाल से वामन और उत्तर-ध्वनिकाल से मम्मट का काव्य-लक्षण उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। निर्दोषता को अपने आप में एक महान गुण माना गया है : महान् निर्दोषता गुणः। काव्य के लिए निर्दोषता की अपेक्षा अधिक है अथवा रसवत्ता की ? दोनों में से कौनसा काव्य के लिए अनिवार्य है ? या मनुष्य अथवा काव्य में निर्दोषता कहां तक सम्भव है ? ये विवादास्पद प्रश्न हैं जिनका समाधान अन्यत्र किया जाएगा। परन्तु दोष का विवेचन काव्यशास्त्र का—विशेष कर रीति-सिद्धांत का—अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है, इसमें संदेह नहीं। काव्य के सौंदर्य-असौंदर्य अथवा प्रभाव का विश्लेषण करने के लिये दोष-दर्शन सर्वथा अनिवार्य है।

दोष की परिभाषा : प्राचीनतर आचार्यों ने—भरत, भामह और दण्डी—तीनों ने दोष का लक्षण नहीं किया। भरत ने केवल इतना ही निर्देश किया है कि दोष की स्थिति भावात्मक है, गुण उसका विपर्यय है : एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः । (नाट्यशास्त्र ७, १५) । भामह ने भी दोषों के वर्ग—सामान्य दोष, वाणी के दोष-भेद, तथा दोष के गुणत्व-साधन आदि का विवेचन तो किया है, परन्तु सामान्य लक्षण नहीं दिया—केवल यह कह दिया है कि काव्य में सत्कवि इसका प्रयोग नहीं करते : कवयो न प्रयुजते । दण्डी ने विशेष दोष-वर्णन विस्तारपूर्वक किया है, किन्तु दोष की परिभाषा नहीं की । उन्होंने सामान्य दोष के स्वरूप के विषय में केवल दो बातें कही हैं:

(१) दोषा विपत्तये तत्र + + + ।

(२) इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः ।

(१) दोष काव्य में विफलता के कारण होते हैं + + + ।

(२) विद्वानों को काव्य में इनका परिहार करना चाहिए ।

गुण की भाँति दोष का लक्षण भी सबसे पहले वामन ने ही किया है : गुणविपर्ययात्मनो दोषाः अर्थात् गुण के विपर्यय का नाम दोष है । यहाँ भी प्रश्न उठ सकता है कि विपर्यय का क्या अर्थ है : वैपरीत्य या अभाव या अन्यथाभाव ? वामन के विवेचन से स्पष्ट है कि विपर्यय से उनका अभिप्राय वैपरीत्य का ही है—उनके दोष काव्य-सौंदर्य (गुण) के अभाव के द्योतक नहीं हैं, वे काव्य-सौंदर्य के घातक हैं । उनके अधिकांश गुण सौंदर्य-शास्त्र तथा लोक-श्रौचित्य आदि के निषेध अथवा उल्लंघन द्वारा काव्य-सौंदर्य की हानि करते हैं : अतएव उनकी स्थिति विलोम रूप में भावात्मक ही है । इस प्रकार वामन के अनुसार दोष उन तत्वों को कहते हैं जो काव्य-सौंदर्य की हानि करते हैं । वामन की दृष्टि में सौंदर्य वस्तुगत है, इसलिए दोष भी वस्तुगत ही हैं—वे बाह्य रूप को विकृतियाँ मात्र हैं, आंतरिक चित्तवृत्ति के उद्वेग नहीं हैं ।

ध्वनि की स्थापना के उपरान्त चित्र बदल गया । काव्य का सौंदर्य रूपगत न रहकर आत्मगत हो गया—अतएव दोषों की स्थिति भी बदल गई : वे भी मूलतः आत्मगत (रस से सम्बद्ध) और उसके आश्रय से ही गौण रूप में शब्द और अर्थ-गत माने गए । आनन्दवर्धन तथा अभिनव ने इस तथ्य का संकेत किया, और मम्मट ने उसे स्पष्ट रूप में प्रस्तुत कर दिया :

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदश्रयाद्वाच्यः । —अर्थात् दोष वह है जिससे मुख्य अर्थ की हानि हो । यह मुख्य अर्थ है रस और उसके आश्रय से गौण रूप में वाच्य भी । विश्वनाथ ने इसी बात को और भी सीधे ढंग से कह दिया :

दोषास्तस्यापकर्षकाः—उसके (रसके) अपकर्षक दोष कहलाते हैं ।

इस प्रकार जो रस का अपकर्षण अथवा हानि करे वह दोष है । रस के अपकर्षण अथवा हानि का अर्थ क्या है ? रस की हानि तीन प्रकार से सम्भव है : रस-प्रतीति में (१) विलम्ब द्वारा, (२) अवरोध द्वारा, और (३) रस-प्रतीति के पूर्ण विनाश या विघात द्वारा । रस आनन्द की अवस्था है, अतएव उसका विलम्बन, अवरोधन अथवा विघात निश्चय ही उद्वेग-जनक होगा—इसीलिए अग्निपुराण ने प्रभाव को आधार मानकर ही दोष का लक्षण किया है : उद्वेगजनको दोषः—काव्यास्वाद में तत्पर चित्त में जो उद्वेग उत्पन्न करे वह दोष है । यह दोष आंतरिक उद्वेग रूप है । इस प्रकार पूर्व-ध्वनि और उत्तर-ध्वनि काल की दोष-विषयक धारणाओं में भी मौलिक अंतर मिलता है, पूर्व-ध्वनिकाल में दोष के बाह्य वस्तुगत अर्थात् शब्द-अर्थ-गत रूप पर बल दिया गया, और उत्तर-ध्वनि काल में आंतरिक आत्मगत अर्थात् रसगत रूप पर । किन्तु यह केवल दोष-विषयक धारणा का भेद नहीं है—यह तो मूलतः काव्य-विषयक धारणा का भेद है । जब काव्य का रूप बाह्य तथा वस्तुगत माना जाता था, दोष वस्तुगत ही थे, किन्तु जब काव्य का रूप आत्मगत मान लिया गया तो दोष भी आत्मगत हो गए : काव्य के सम्बन्ध में उनकी स्थिति वही रहा—पहले भी वे काव्य के अपकारक थे और बाद में भी वही रहे । अतएव दोष का सामान्य लक्षण यही संगत है : काव्य के अपकारक तत्वों का नाम दोष है । काव्य के दो अंग हैं प्राणभूत रस और देहभूत शब्द-अर्थ । अतएव काव्य के अपकारक का अर्थ हुआ रस तथा शब्द और अर्थ के अपकारक—और दोष की स्पष्ट परिभाषा हुई : मूलरूप में रस और गौण रूप में शब्द और अर्थ के अपकर्ष द्वारा काव्य का अपकार करने वाले तत्त्व दोष कहलाते हैं ।

दोष की मनोवैज्ञानिक स्थिति : अभी हमने स्पष्ट किया है कि दोष का अर्थ है काव्य का अपकार करने वाला और काव्य के अपकार का अर्थ है मूलतः रस का ही अपकार क्योंकि शब्द और अर्थ का अपकार अप्रत्यक्ष रूप से रस का ही अपकार है : जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ फिर वह दोष नहीं

रहता। इस प्रकार तत्त्व रूप में सभी दोषों का रसापकर्ष से सम्बन्ध है, और जैसा विश्वनाथ आदि ने कहा है, वे (१) या तो रस की प्रतीति को रोक देते हैं या (२) रस की उत्कृष्टता की विघातक किसी वस्तु को बीच में खड़ा कर देते हैं या (३) रसास्वाद में विलम्ब कर देते हैं। और गहरे में जाएं तो हम देखते हैं कि समस्त दोषों का मूल औचित्य का व्यक्तिक्रम है। औचित्य का अर्थ है सहज स्थिति या सामान्य व्यवस्था। उसका उत्कर्ष गुण है, अपकर्ष दोष है। साहित्य में यह औचित्य कई प्रकार का होता है, एक पद-विषयक औचित्य जो शब्द और अर्थ के सामंजस्य पर निर्भर रहता है, दूसरा व्याकरण-विषयक औचित्य जो पदों की आर्थी व्यवस्था पर आश्रित रहता है, तीसरा बौद्धिक औचित्य जो हमारी ज्ञान वृत्तियों के समन्वय का परिणाम होता है, चौथा भावना-विषयक औचित्य जिसका हमारी भाव-वृत्तियों की अन्विति से सम्बन्ध है। यह औचित्य जहां कहीं खण्डित हो जाता है वहीं दोष का आविर्भाव हो जाता है। उदाहरण के लिए पद-विषयक औचित्य की हानि से श्रुति-कटुत्वादि पद-दोषों का जन्म होता है, व्याकरण-विषयक औचित्य की हानि से न्यूनपद, समाप्त-पुनरात्त आदि प्रायः सभी वाक्य-दोष उत्पन्न हो जाते हैं। बौद्धिक औचित्य का त्याग प्रसिद्धि-त्याग, भग्न-प्रक्रम, अपुष्ट, कष्टार्थ आदि दोषों की सृष्टि करता है और भावना-विषयक औचित्य खण्डित होकर सीधा रस-दोषों की अथवा अश्लीलता, ग्राम्यत्व आदि की सृष्टि करता है। इनमें पहले प्रकार के दोष तो प्रायः ऐन्द्रिय (कर्णगोचर) संवेदन और मानसिक संवेदन में असांजस्य उत्पन्न करते हुए, दूसरे और तीसरे प्रकार के दोष अर्थ-ग्रहण में बाधक होकर बौद्धिक संवेदनों को विशृङ्खल करते हुए, तथा अन्तिम प्रकार के दोष प्रत्यक्ष रूप में ही हमारी चित्तवृत्तियों की अन्विति में बाधक होते हुये रस का अपकर्ष करते हैं। श्रुति-कटुत्वादि में विरोधी ऐन्द्रिय चित्र का मानसिक चित्र पर आरोप होने से गड़बड़ हो जाती है, न्यूनपद, कष्टार्थ आदि में मानसिक चित्र अत्यंत धुँधला और और अस्पष्ट उतरता है, और रस दोषों में दो परस्पर विरोधी मानसिक चित्रों का एक दूसरे पर आरोप होने से भाव-चित्र पूरा नहीं हो पाता।

दोष—भद

भरत ने दोषों की संख्या दस मानो है—

१. गूढ़ार्थ—जहां किसी क्लिष्ट-कल्पित विशेषण का (अनावश्यक) प्रयोग हो,

२. अर्थान्तर—जहां अवर्ण्य का वर्णन हो—अर्थात् अनावश्यक कथन हो,
 ३. अर्थहीन—जहां असम्बद्ध अर्थात् असंगत (परस्पर-विरोधी) कथन हो,
 अथवा जहां आशय अपूर्ण रह जाए, ४. भिन्नार्थ—जहां अर्थ छिन्न-भिन्न
 हो जाए—अर्थात् (अ) जहां असम्बन्ध अथवा ग्रास्य अर्थ का वाचन हो, अथवा
 जहां (आ) अभीष्ट अर्थ की दूसरे अर्थ में परिणति हो जाए । ५. एकार्थ—
 एक अर्थ के लिए अनेक (अनावश्यक) शब्दों का प्रयोग, ६. अभिप्लुतार्थ—
 जहाँ प्रत्येक चरण में अर्थ पूरा हो जाए और विभिन्न अर्थों में कोई अन्विति
 न हो । ७. न्यायादपेत—अर्थात् प्रमाण (तर्क) से रहित, ८. विषम—
 जहाँ छंदोभंग हो, ९. विसन्धि—जहां सन्धि-योग्य शब्दों में सन्धि न की
 जाए, १० शब्दहीन—जहां अशब्द (व्याकरण-अशुद्ध शब्द) का प्रयोग हो ।^१

भरत के उपरांत भामह ने तीन प्रकार के दोष माने हैं:—

सामान्य दोष—१. नेयार्थ, २. क्लिष्ट, ३. अन्यार्थ, ४. अवाचक, ५. अयु-
 क्तिमत् और ६. गूढ़-शब्द ।

वाणी के दोष—१. श्रुतिदुष्ट, २. अर्थदुष्ट, ३. कल्पना-दुष्ट, ४. श्रुति-कष्ट ।
 अन्य दोष—१. अपार्थ २. व्यर्थ ३. एकार्थ ४. ससंशय ५. अपक्रम
 ६. शब्दहीन ७. यतिभ्रष्ट ८. भिन्नवृत्त ९. विसन्धि १०. देशकालकला-
 लोकन्यायागम-विरोधी, ११. प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्त हीन ।

भामह के इन तीन दोष-वर्गों का पार्थक्यकारी आधार अधिक स्पष्ट
 नहीं है । उनके विवेचन से न तो यह स्पष्ट है कि वाणी के दोषों से उनका
 अभिप्राय क्या है और न यह कि सामान्य तथा अन्य दोषों का आधारभूत
 अन्तर क्या है । वाणी के दोष यदि शब्द-दोष हैं तब श्रुतिकष्ट तो ठीक है—
 श्रुति-दुष्ट भी खींचखाँच कर मान लिया जाए परन्तु अर्थ-दुष्ट और कल्पना-
 दुष्ट शब्द-दोष कैसे हो सकते हैं ? ये तीनों क्रमशः वामन के पदार्थ-दोष
 अश्लील के घृणा, व्रीडा तथा अमंगल-वाचक रूपों के ही पर्याय हैं ।

भामह को इस प्रकार के वर्गीकरण की प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हुई यह
 कहना भी कठिन है । उनके अन्य दोष तो बहुत-कुछ भरत से प्रेरित हैं,

१ निगूढमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम् ।

न्यायादपेतं विषमं विसन्धिशब्दच्युतं वै दश काव्य दोषाः ॥

नाट्य शास्त्र (१७, ८८)

परन्तु सामान्य तथा वाणी-दोषों का उद्गम-स्थान अज्ञात है । ऐसा प्रतीत होता है कि भामह के समय में पण्डित-समाज में काव्य-दोषों की तीन पृथक् रूपों में चर्चा थी, और भाह ने उन तीनों को ही अपने ग्रंथ में सन्निविष्ट कर लिया । प्रत्येक शास्त्र की आरम्भिक अवस्था में प्रायः आगमन शैली का ही प्रयोग होता है—प्रस्तुत विशिष्ट सामग्री के विवेचन-विश्लेषण द्वारा निगमन शैली से सामान्य सिद्धान्तों अथवा रूपों का ग्रहण किया जाता है । भामह के समय में भारतीय साहित्य-शास्त्र अपनी आरम्भिक अवस्था में था—उस समय प्राप्त काव्य का विश्लेषण करते हुए विशेष से सामान्य की उपलब्धि की जा रही थी । गुण, अलंकार, दोष आदि का विवेचन इसी रूप में हो रहा था । कुछ आचार्यों ने अपने ढंग से प्रथम वर्ग के छः दोषों की उद्भावना की होगी—कुछ ने द्वितीय वर्ग के चार दोषों की और कतिपय अन्य आचार्यों ने—भरत आदि ने—अथवा उनसे भी पूर्व अन्य आचार्यों ने—तृतीय वर्ग के ग्यारह दोषों की । भामह ने अपने विवेचन में इन तीनों का ही समावेश कर लिया है ।

दण्डी ने भामह के 'अन्य दोष' अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ आदि यथावत् अपना लिए हैं : इनमें से केवल अन्तिम दोष 'प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्तहीन' उन्हें ग्राह्य नहीं हैं । उन्होंने स्पष्ट लिखा है ।

'प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्त की हानि दोष है या नहीं यह एक कर्कश विचार है अर्थात् जटिल समस्या है, उसके साथ उलझने से क्या लाभ ? (काव्यादर्श, ३, १२७) ।

इस प्रकार दण्डी ने दश दोष माने हैं:—

१. अपार्थ—जहां समग्र रूप में कोई अर्थ ही न निकलता हो, २. व्यर्थ—जहां एक वाक्य अथवा प्रबन्ध में पूर्वापरविरोध हो, ३. एकार्थ—जहां पूर्व-कथन की, बिना किसी वैचित्र्य के, शब्द अथवा अर्थ में आवृत्ति हो, ४. संशय—जहां अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए प्रयुक्त वचन संशय उत्पन्न करते हों, ५. अपक्रम—जहां क्रम से वर्णित वस्तुओं का आगे उसी क्रम से वर्णन न हो, ६. शब्दहीन—जहां व्याकरण-अशुद्ध तथा शिष्ट जन द्वारा अस्वीकृत शब्द का प्रयोग हो, ७. यतिभ्रष्ट—जहां यति-भंग हो, ८. भिन्नवृत्त—जहां न्यूनाधिक वर्णों का प्रयोग हो, अथवा गुरु-लघु की व्यवस्था का भंग हो, ९. विसन्धि—जहां सन्धि-नियम का उल्लंघन हो,

१०. देश-काल-कला-लोकन्यायागम-विरोधी—जहां देश, काल, लोक, न्याय, आगम का विरोध हो।

भामह और दण्डी का यह दश-दोष-वर्णन भरत के दोषवर्णन से स्पष्टतः प्रभावित है। उनके १. एकार्थ तथा २. विसन्धि तो नाम और स्वरूप दोनों में एक हैं ही—३. विषम और भिन्नवृत्त में केवल नाम का भेद है—दोनों में छंदोभंग का ही वर्णन है। इनके अतिरिक्त भरत का ४. अर्थहीन और भामह-दण्डी का व्यर्थ, भरत का ५. न्यायादपेत तथा भामह-दण्डी का देशकालकलालोकन्यायागमविरोधी, भरत का ६. शब्दच्युत तथा भामह-दण्डी का शब्दहीन भी प्रायः अभिन्न ही हैं। भरत के ७. भिन्नार्थ के दो रूप हैं (अ) ग्राम्य तथा (आ) संदिग्ध—इनमें से दूसरा रूप भामह-दण्डी का ससंशय दोष है। उधर भरत का ८. अभिप्लुतार्थ और भामह-दण्डी का अपार्थ भी प्रायः समान ही हैं। इस प्रकार भरत तथा भामह-दण्डी के आठ दोष लगभग समान ही हैं। भरत के दो दोष गूढार्थ और अर्थान्तर इन परवर्ती आचार्यों ने ग्रहण नहीं किये। इनमें से वास्तव में अर्थान्तर का अन्तर्भाव तो एकार्थ में हो जाता है, केवल एक दोष रह जाता है गूढार्थ। इनके अतिरिक्त भामह-दण्डी ने दो नवीन दोषों का उल्लेख किया है—अपक्रम और यतिभ्रष्ट। पर इन दो दोषों में से भी यतिभ्रष्ट का अन्तर्भाव भिन्नवृत्त में माना जा सकता है—अतः केवल अपक्रम ही एक ऐसा दोष रह जाता है जो भरत के प्रभाव से मुक्त है।

वामन ने गुण की भाँति दोष के भी शब्दगत और अर्थगत भेद किये हैं : वामन-कृत भेद तो चार हैं—पद-दोष, पदार्थ-दोष, वाक्य-दोष और वाक्यार्थ-दोष—परन्तु उनका आधार मूलतः शब्द और अर्थ ही है। वामन के अनुसार भेदों की संख्या २० है।

पाँच पद-दोष :— १. असाधु अर्थात् व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध, २. कष्ट अर्थात् श्रुति-विरस (कर्णकटु) ३. ग्राम्य, ४. अप्रतीत अर्थात् अप्रचलित पारिभाषिक शब्द आदि का प्रयोग, ५. अनर्थक अर्थात् निरर्थक जहां केवल पाद-पूर्ति के लिए भर्ती के शब्द 'तु' 'खलु' आदि रख दिये जाते हैं।

पाँच पदार्थ-दोष :— १. अन्यार्थ—जहां शब्द का रुद्धिच्युत अर्थ में प्रयोग हो यथा प्रस्मरण = विस्मरण = का स्मरण के अर्थ में प्रयोग।

२. नेयार्थ अर्थात् काल्पताय, जिसका अर्थ कल्पना से लगाना पड़ता हो, यथा दशरथ के लिए पत्तिविहंगमनामभृत् विशेषण का प्रयोग (पत्ति=दश+विहंगम नाम=चक्र+भृत्=धारणा करने वाला=रथ) ३. गूढार्थ=अप्रसिद्धार्थ ४. अश्लील ५. क्लिष्ट—जहां अर्थ अत्यन्त दूरारूढ़ हो।

तीन वाक्य-दोष :— १. भिन्नवृत्ति २. यतिभ्रष्ट ३. विसंधि।

सात वाक्यार्थ दोष :— १. व्यर्थ=पूर्वापर विरोधी, २. एकार्थ—जिसमें उक्तार्थ पद की निष्प्रयोजन आवृत्ति हो ३. संदिग्ध ४. अप्रयुक्त—जहां सर्वथा काल्पनिक अथवा भ्रान्तिपूर्ण अर्थ का आरोप हो—इसके उदाहरण प्रायः दुर्लभ हैं, ५. अपक्रम—जहां अर्थ में क्रम न हो ६. अलोक जिसका अर्थ देश, काल और प्रवृत्ति के विरुद्ध हो, ७. विद्या-विरुद्ध जिसका अर्थ कला और शास्त्र के मान्य सिद्धान्तों के विरुद्ध हो।

वामन अपने इस दोष-विस्तार के लिए भरत, भामह तथा दण्डी तीनों के ही ऋणी हैं। उनके नौ वाक्यार्थ दोष भामह और दण्डी के आठ दोषों से अभिन्न हैं, भिन्नवृत्ति, यतिभ्रष्ट, विसंधि, व्यर्थ, एकार्थ, संदिग्ध, अपक्रम, अलोक तथा विद्या-विरुद्ध यथावत् भामह और दण्डी से ही ग्रहण कर लिए गये हैं : केवल एक साधारण-सा अन्तर यह है कि वामन ने अलोक और विद्या-विरुद्ध को दो पृथक् दोष माना है, परन्तु भामह दण्डी ने उन्हें एक ही माना है। वामन का पद-दोष असाधु भरत का शब्द-च्युत और भामह दण्डी का शब्द हीन है। उनका पद-दोष अनर्थक, पदार्थदोष नेयार्थ, अनर्थार्थ तथा क्लिष्ट थोड़े बहुत अन्तर से भामह के 'सामान्य दोषों' के अन्तर्गत आ जाते हैं। वामन का कष्ट अथवा श्रुति-विरस भामह का श्रुतिकष्ट नामक वाणीदोष ही है। इस प्रकार पन्द्रह दोषों का हिसाब लग जाता है—शेष रह जाते हैं पाँच :—दो पद-दोष—ग्राम्य तथा अप्रतीत, दो पदार्थ-दोष—गूढार्थ तथा अश्लील, एक वाक्यार्थ दोष—अप्रयुक्त। इनमें अश्लील के घृणा, व्रीडा तथा अमंगल-वाचक तीनों रूप भामह के श्रुति-दुष्ट, अर्थ-दुष्ट तथा कल्पना दुष्ट के हो विकसित रूप हैं। ग्राम्यदोष भी अश्लील से मूलतः भिन्न नहीं है—यहां ग्राम्यता शब्द में है अर्थ में नहीं है।

गूढार्थ नामक दोष भरत ने भी माना है परन्तु लक्षण को देखते हुए उनका यह दोष नेयार्थ तथा क्लिष्ट के निकट पड़ता है। भामह का भी एक सामान्य दोष गूढाभिधान नाम का है। वामन का यह दोष इनमें ही खप

जाता है। इसी प्रकार अप्रतीत का अन्तर्भाव भी गूढ़ार्थ आदि में हो सकता है। अप्रयुक्त को स्वयं वामन ने अत्यंत विरल माना है और उसका उदाहरण भी नहीं दिया।

वामन के दोषों में एक-दूसरे का संक्रमण करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है : क्लिष्ट, नेयार्थ तथा गूढ़ार्थ आदि की सीमाएं मिला-जुली हैं। अप्रतीत भी इनसे दूर नहीं है। अप्रयुक्त का स्पष्ट निर्देशन ही वामन ने नहीं किया है अतएव वह क्लिष्ट, गूढ़ार्थ आदि से कितना भिन्न है यह कहना कठिन है। वामन का सबसे बड़ा योग-दान यह है कि उन्होंने शब्द और अर्थ के आधार-भेद से दोषों का विभाजन किया है। अपनी दृष्टि से वामन ने शब्द, शब्दार्थ, वाक्य तथा वाक्यार्थ के पार्थक्य का निर्वाह अत्यन्त स्वच्छता से किया है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु यह कार्य थोड़ी जोखिम का है। शब्द और उसके अर्थ में इतना स्पष्ट भेद करना या पदार्थ तथा वाक्यार्थ में बहुत दूर तक पार्थक्य निभाना कठिन हो है।

पूर्व-ध्वनि काल में दोष-विवेचन की यही स्थिति रही। काव्य के अन्य अंगों की भाँति दोषों का विवेचन भी वस्तुगत ही रहा : दोष मूलतः केवल दो प्रकार के माने गये : शब्दगत और अर्थगत। वैसे इनके भी अवान्तर भेद किए गए।

शब्द-दोष के तीन भेद : पदगत, पदांशगत और वाक्यगत; और अर्थ-दोष के दो भेद : पदार्थगत तथा वाक्यार्थगत। परन्तु वास्तविक आधार शब्द और अर्थ ही रहे।

उत्तर-ध्वनि काल में रसध्वनि की काव्यात्मा रूप में प्रतिष्ठा हो जाने पर रसौचित्य को काव्य की मुख्य कसौटी माना गया और उसके गुण-दोष का विवेचन तदनुसार ही किया गया। इस प्रकार रसदोषों का भी आविर्भाव हुआ।

भोज ने वाक्य-दोषों के अन्तर्गत एक और वर्ग माना है अरीतिमत् जिन्हें उन्होंने विपर्यय-दोष भी कहा है। ये दोष समाधि को छोड़ अन्य नौ गुणों के वैपरीत्य है। अतएव जहाँ गुणों के विपर्यय प्रयुक्त हों वहाँ अरीतिमत् अर्थात् रीति-विरोधी दोष होते हैं। समाधि को कदाचित् इसलिए छोड़ दिया गया है कि दण्डी ने उसे काव्य के लिए प्रायः अनिवार्य ही माना है। वामन

ने भी दोषों को गुणों के विपर्यय माना है परन्तु वे अपने लक्षणों में इस वैपरीत्य का निर्वाह नहीं कर सके—उनका दोष-वर्णन स्वतन्त्र सा हो गया है; भोज के दोष वास्तव में ही गुणों के विपर्यय रूप हैं ।

उत्तरध्वनिकालीन दोष-दर्शन का सार मम्मट के काव्यप्रकाश में संगृहीत है । उसमें सत्तर दोषों का वर्णन है : सैंतीस शब्ददोष, तेईस अर्थ दोष तथा दस रस दोष । ये दोष रसौचित्य के आधार पर दो प्रकार के होते हैं—नित्य और अनित्य । वे दोष जो सभी अवस्थाओं में काव्य की आत्मा का अपकार करते हैं नित्य दोष हैं । अन्य दाष जिनका सम्बन्ध रूप-आकार से है अनित्य दोष हैं—वे सर्वत्र ही रसौचित्य की हानि नहीं करते : उदाहरण के लिए श्रुतिकटुत्व आदि शृंगारादि के अपकारक हैं परन्तु रौद्रादि के उपकारक, अतएव वे अनित्य दोष हैं अर्थात् रस के दोष नित्य हैं और शब्द तथा अर्थ के दोष अनित्य हैं । इसी स्थापना को आधार मानकर भोज ने वैशेषिक गुणों की कल्पना कर डाली है । ये वैशेषिक गुण, जैसा कि मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है, अनित्य दोष ही हैं जो अनुकूल परिस्थिति में गुण बन जाते हैं ।

दोषों के मुख्य वर्ग और भेद ये ही हैं—इसमें संदेह नहीं कि भरत अथवा भामह-दण्डी-कृत दोष-भेदों में काव्य के समस्त अपकारक तत्त्वों का समावेश नहीं होता, अतएव दोषों की संख्या निश्चय ही दश से अधिक माननी पड़ेगी । फिर भी मम्मटादि के सत्तर दोषों का विश्लेषण करने पर यह धारणा अवश्य होती है कि वहां कुछ अधिक भेद-विस्तार किया गया गया है । मम्मट के अनेक भेद एक दूसरे को सीमा में संक्रमण कर जाते हैं । इस क्षेत्र में भी अन्य क्षेत्रों की भाँति वर्गीकरण तथा वर्ग-विभाजन के मूल सिद्धांत की प्रायः उपेक्षा कर दी गयी है ।

संस्कृत काव्य-शास्त्रियों में मम्मट इस दृष्टि से अत्यन्त सतर्क आचार्य हैं : हमारा काव्य-शास्त्र नियमन तथा व्यवस्था के लिए उनका चिर-ऋणी रहेगा । फिर भी शाखा-विस्तार की प्रवृत्ति का वे पूर्णतः संवरण नहीं कर सके । अलंकारों की भाँति दोषों के क्षेत्र में भी और अधिक नियमन तथा व्यवस्था की अपेक्षा है ।

दोषों के वर्गों का विवेचन अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक है । पहलँ वर्ग शब्द और अर्थ को आधार मान कर चलता है । काव्य जैसी अर्थ-गभा

वस्तु में शब्द और अर्थ का पार्थक्य करना सहज नहीं है क्योंकि अर्थ से भिन्न शब्द का अस्तित्व वहाँ प्रायः नहीं ही रहता । फिर भी सापेक्षिक महत्व के आधार पर दोनों का भेद माना जा सकता है और माना जाता है । जहाँ दोष शब्द के हो आश्रित हो अर्थात् शब्द के परिवर्तन से—पर्याय के द्वारा, दोष का परिहार हो सके वहाँ शब्द-दोष होता है और जहाँ शब्द-परिवर्तन के उपरांत भी—पर्याय देने पर भी दोष बना रहे वहाँ अर्थ-दोष होता है । यह प्रमाण सर्वथा अकाट्य तो नहीं है फिर भी इसे बहुत कुछ विश्वसनीय माना जा सकता है । मम्मट आदि का दोष-विवेचन इसी पर आधृत है जो निर्दोष न होते हुए भी अधिक असंगत नहीं है ।

रस-दोषों का आधार और भी पुष्ट है । इसमें नित्य और अनित्य की प्रकल्पना गंभीर काव्य-मर्मज्ञता की द्योतक है । इसका वैज्ञानिक विवेचन तो आनन्दवर्धन तथा अन्य ध्वनिवादियों ने ही किया है, परन्तु यह उनकी अपनी उद्भावना नहीं है । उनसे पूर्व भामह और दण्डी दोनों ने ही दोष के गुणत्व-साधन पर प्रकाश डाला है :

“विशेष स्थिति में कुत्सित कथन भी शोभित हो जाता है जिस प्रकार माला के मध्य में गुंथा हुआ नील पलाश ।” (काव्यालंकार १,५४)

“इस प्रकार का (दोषयुक्त) सभी विरोध कभी कभी कवि-कौशल से दोषों की सूची से निकाल कर गुणों की परिधि में पहुँच जाता है ।” (काव्यादर्श, ३, १७६) ।

इससे यह स्पष्ट है कि पूर्व-ध्वनि काल के आचार्य भी काव्य के मर्म से अनभिज्ञ नहीं थे—उनकी अपनी दृष्टि-सीमा अवश्य थी, परन्तु काव्य के मर्म का ज्ञान उन्हें निस्संदेह था ।

इसी से सम्बद्ध दोषों के वर्ग विभाजन का एक अन्य प्रकार भी है जिसका मूल आधार भी रस ही है । इसका आधार-भूत सिद्धान्त यह है कि काव्य की चरम सिद्धि रस है और सभी प्रकार के दोषों का सम्बन्ध अन्ततः उसी के साथ रहता है । ये दोष तीन प्रकार से रस का अपकर्ष करते हैं : रस की प्रतीति को अवरुद्ध कर, उसके मार्ग में व्यवधान खड़ा कर, और उसमें विलम्ब उपस्थित कर । इसी आधार पर दोषों के तीन वर्ग माने हैं : १ रस

प्रतीति को अवलुब्ध करने वाले, २ रस-प्रतीति में व्यवधान उपस्थित करने वाले और ३ रस-प्रतीति में विलम्ब उपस्थित करने वाले । यह वर्ग-विभाजन निस्संदेह ही तात्त्विक है और काव्य-दोष के मनोवैज्ञानिक विवेचन से सम्बन्ध रखता है । संस्कृत काव्यशास्त्र में इस आधार का स्पष्ट विवेचन किया गया है, परन्तु उसके अनुसार दोषों का वर्गीकरण नहीं किया गया—कदाचित् इसलिये कि सूक्ष्म आधार को अपेक्षा किसी मूर्त आधार पर वर्गीकरण करना सहज होता है । हमारी धारणा है कि उपर्युक्त आधार पर काव्य-दोषों का पुनरावधान होना चाहिए : वह अधिक तात्त्विक होगा और काव्य के आंतरिक विश्लेषण में उससे अधिक सहायता मिलेगी ।

रीति के प्रकार

भामह ने कदाचित् काव्य नाम से और दण्डी ने मार्ग नाम से रीति के दो प्रकार माने हैं : वैदर्भ और गौडीय । भामह ने इन दोनों के पार्थक्य को तो स्वीकार किया है : वैदर्भ मार्ग में पेशलता, ऋजुता आदि गुण रहते हैं, और गौडीय में अलंकार आदि । परन्तु वे यह मानने का तैयार नहीं हैं कि वैदर्भ सत्काव्य का और गौडीय असत्काव्य का पर्याय है । काव्य के मूलभूत गुणों के संयोग से, और अपने अपने गुणों के संयत प्रयोग से दोनों हा सत्काव्य हो सकते हैं : केवल नाम के आधार पर ही एक को उत्कृष्ट और अपर को निकृष्ट कह देना गतानुगतिकता है । दण्डी ने, इसके विपरीत, यह माना है कि वैदर्भ दशगुणों से अलंकृत होता है और गौडीय में इनके विपर्यय मिलते हैं । किन्तु दण्डी ने गुण-विपर्यय को दोष नहीं माना है । क्योंकि उस स्थिति में तो गौडीय मार्ग काव्य संज्ञा का अधिकारी ही नहीं रहेगा । उन्होंने, जैसा कि आगे चल भोज ने अपने ढंग से स्पष्ट किया है, स्वाभावोक्ति और रसोक्ति को वैदर्भ के मूल गुण, और वक्रोक्ति को अर्थात् वैचित्र्य तथा अलंकार आदि को गौडीय की मूल विशेषता स्वीकार किया है । हां यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि दण्डी गौडी की अपेक्षा वैदर्भी को उत्कृष्ट काव्य मानते थे ।

वामन ने रीति शब्द का सर्वप्रथम उपयोग करते हुए तीन रीतियां मानीं १ वैदर्भी, २ गौड़ीया और ३ पांचाली । १ 'समस्त गुणों से भूषित वैदर्भी कहलाती है । दोष के लेशमात्र से भी अस्पृष्ट, समस्त गुण-गुम्फित, वीणा के स्वर सी मधुर वैदर्भी कहलाती है ।' २ 'ओज और कान्ति से विभूषित गौड़ीया रीति होती है । + + इसमें माधुर्य और सौकुमार्य का अभाव रहता है, समासों का बाहुल्य होता है और पदावली कठोर होती है ।' ३ 'माधुर्य और सौकुमार्य से उपपन्न रीति का नाम है पांचाली । + + ओज और कान्ति के अभाव में इसकी पदावली अकठोर होती है और यह रीति कुछ निष्प्राण (श्रीहीन) सी होती है । कवियों ने उस रीति को पांचाली संज्ञा दी है जो श्लथ-बंध, पुराण शैली को अनुवर्तिनी, मधुर तथा सुकुमार होती है ।' (काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति) ।

वामन के उपरांत रुद्रट ने रीतियों की संख्या चार कर दी । उन्होंने लाटीया नामक एक चौथी रीति की उद्भावना और की । रुद्रट ने रीतियों के दो वर्ग कर दिए : एक वर्ग में वैदर्भी और पांचाली आती हैं और दूसरे में गौड़ी और लाटीया । उन्होंने समास की रीति भेद का आधार माना : वैदर्भी में समास का अभाव रहता है । पांचाली में लघु समास अर्थात् दो-तीन समास, लाटीया में मध्यम समास अर्थात् पांच-सात और गौड़ीया में दीर्घ समास का प्रयोग होता है । रुद्रट ने रीति और रस का स्पष्ट सम्बन्ध स्वीकार किया है : वैदर्भी तथा पांचाली, शृङ्गार, करुण, भयानक तथा अद्भुत रसों के, और गौड़ी तथा लाटीया रौद्र के अनुकूल रहती है ।^१ शेष चार रसों के लिए रीति का नियम नहीं है । यह रीति-रस-सम्बन्ध भरत से अनुप्रेरित है—भरत ने रीतियों की समानधर्मा वृत्तियों का रस के साथ सहज सम्बन्ध माना है ।

शिगभूपाल ने केवल तीन ही रीतियों का अस्तित्व माना : कोमला, कठिना तथा मिश्रा जो क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली की पर्याय मात्र हैं । राजशेखर ने भी सामान्यः वामन की इन्हीं तीन रीतियों को ग्रहण किया है । काव्यमीमांसा के काव्यपुरुष प्रसंग में इन्हीं तीन का उल्लेख है । उधर कर्पूर-मंजरी के मंगल-श्लोक में भी नामभेद से तीन ही रीतियों का स्मरण किया

१ वैदर्भी-पांचाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः ।

लाटीयागौड़ीये रौद्रे कुर्याद् यथौचित्यम् ॥

(काव्यालंकार-१५।२०)

गया है : वच्छोमी, मागधी तथा पांचाली । इनमें वच्छोमी वत्सगुल्मी का प्राकृत रूप है जो विदर्भ की राजधानी वत्सगुल्म के नाम पर आधृत होने के कारण वैदर्भी की ही पर्याय है । इसी प्रकार पूर्व से सम्बद्ध गौड़ी और मागधी भी कदाचित् एक ही हैं । यह तो हुई तीन रीतियों की बात । परन्तु राजशेखर ने बालरामायण में एक चौथी रीति मैथिली का भी उल्लेख किया है जिसके गुण इस प्रकार हैं : १ अर्थातिशय (अर्थ-चमत्कार) होने पर भी जगन्मर्यादा का अनतिक्रमण—अर्थात् कोरी अत्युक्तियों का परिहार—इसे दण्डी ने कांति गुण माना है ।

२ समास का ईषत् प्रयोग ।

३ योगपरम्परा ।

मैथिली का राजशेखर के पूर्व किसी ने वर्णन नहीं किया—उनके उपरांत भी केवल श्रीपाद नामक एक विद्वान ने उसका उल्लेख किया और उन्होंने भी उसे मागधी का पर्याय ही माना है । विस्तार-प्रिय भोज ने रीति-क्षेत्र में भी अपनी प्रवृत्ति का परिचय दिया । उन्होंने सब मिलाकर छः रीतियां मानी वैदर्भी, पांचाली, लाटीया, गौड़ीया, अवन्तिका और मागधी । इनमें से वैदर्भी-गौड़ीया भामह-दण्डी की अथवा उनसे भी पूर्व की रीतियाँ हैं, पांचाली वामन की तथा लाटीया रुद्रट की उद्भावना है, मागधी का उल्लेख राजशेखर और श्रीपाद में मिलता है । अवन्तिका अवन्ती के राजा भोज की नवीन कल्पना है जो कदाचित् स्वदेश-प्रेम आदि व्यक्तिगत कारणों से प्रेरित है । इस नवीन उद्भावना का कोई संगत आधार नहीं है—भोजराज ने इसे वैदर्भी और पांचाली की अंतरालवर्तिनी माना है जिसमें तीन-चार समास होते हैं । लाटीया के विफल होने पर खण्डरीति मागधी होती है । यह रीति विस्तार प्रायः भोज पर ही समास हो जाता है—केवल एक अप्रसिद्ध लेखक ने, जिसका नाम था सिंहदेवगणि, भोज की अवन्तिका का त्याग करते हुए वच्छोमी को स्वतंत्र रीति माना है और अपनी षट्-रीतियों का रस के साथ कुछ मनमाने ढंग से समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है : लाटी = हास्य, पांचाली = करुण और भयानक, मागधी = शांत, गौड़ी = वीर और रौद्र, वच्छोमी = वीभत्स और अद्भुत, वैदर्भी = शृङ्गार ।^१

१ देखिए डा० राघवन के 'रीति' नामक निबन्ध की पादटिप्पणी ।

रस-ध्वनिवादियों ने विस्तार को महत्व न देकर सदा व्यवस्था को ही महत्व दिया है अतएव उन्होंने रीति-विस्तार का भी नियमन ही किया है। आनन्दवर्धन तथा मम्मट आदि ने, प्रायः, वामन की तीन रीतियों को ही स्वोकार्य माना है : उप-नागरिका, परुषा और कोमला—वैदर्भी, गौदी और पांचाली। कवि-स्वभाव को आधार मानते हुए प्रायः इसी प्रकार के तीन मार्ग कुन्तक ने माने हैं : सुकुमार, विचित्र और मध्यम।

उपर्युक्त वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है : कि संस्कृत काव्य-शास्त्र में प्रायः वामन की तीन रीतियां ही मान्य हुईं। रस-ध्वनिवादी तथा अन्य गंभीर-चेता आचार्यों ने उन्हें ही मान्यता दी है। और वास्तव में यह उचित भी है। यदि रीति के आन्तरिक आधार गुण को प्रमाण माना जाय तब भी तान गुणों के अनुसार उपर्युक्त तीन रीतियां ही मान्य हो सकती हैं। मनो-विज्ञान के अनुसार भी कोमल और परुष ये स्वभाव के दो स्पष्ट भेद हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त एक तीसरा भेद भी इतना ही स्पष्ट है—प्रसन्न जिसमें इन दोनों का संतुलित मिश्रण रहता है। इसे ही चित्त की निर्मलता अथवा प्रसाद कहा गया है। अतएव इन तीन प्रकार के स्वभावों की माध्यम तीन रीतियों का अस्तित्व ही मान्य है। वैसे मानव-स्वभाव अनन्त रूप है—उसका कोई पार नहीं पाया जा सकता। परन्तु उसकी मूल प्रवृत्तियां प्रायः ये ही हैं। इसी प्रकार (जैसा कि दण्डी ने कहा है और कुन्तक ने पुष्ट किया है) वाणी की रीतियां भी अनेक हैं। परन्तु उनके मूल भेद दो-तीन से अधिक नहीं हो सकते।

बाह्य आधार : समास, वर्ण-गुम्फ आदि को प्रमाण मान कर भी स्थिति यही रहती है। समास की दृष्टि से रचना असमासा या लघुसमासा, मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा तीन की प्रकार हो सकती है : अब इनके बीच में समासों की गणना से और भी भेद प्रस्तार करना विशेष तर्क-संगत नहीं है। रुद्रट की लाटोया तथा भोजराज की अवन्तिका आदि का आधार इसलिए पुष्ट नहीं है। इसी प्रकार वर्ण भी मूलतः तीन प्रकार के ही हो सकते हैं—कोमल और परुष और इनके अतिरिक्त शेष अन्य वर्ण जो न एकांत कोमल होते हैं और न सर्वथा परुष। कहने का तात्पर्य यह है कि रुद्रट की लाटोया और भोज की अतिरिक्त रीतियां अनावश्यक हैं।

यहां एक प्रश्न उठ सकता है—मेरे मन में भी उठा है। वैदर्भी और गौड़ी ही अलं क्यों नहीं हैं—क्या पांचाली की कल्पना भी अनावश्यक नहीं है ? इसका उत्तर यह है कि वैदर्भी में पांचाली का यदि अंतर्भाव मान लिया जाता है तो फिर गौड़ी भी उसकी परिधि से बाहर नहीं पड़ती क्यों कि समग्रगुणसम्पदा से अलंकृत वैदर्भी में जिस प्रकार माधुर्य और सौकुमार्य का समावेश रहता है, उसी प्रकार ओज और कांति का भी। अतएव वैदर्भी गौड़ी की विपरीत रोति नहीं है—गौड़ी की विपरीत रोति पांचाली ही है। जिस प्रकार मानव-स्वभाव के दो छोर हैं नारीत्व और पुरुषत्व, इसी प्रकार अभिव्यंजना के भी दो छोर हैं स्त्रैण पांचाली और परुषा गौड़ी। नारीत्व की अभिव्यंजक पांचाली, और पुरुषत्व की अभिव्यंजक गौड़ी—इनके अतिरिक्त इन दोनों के समन्वय से समृद्ध व्यक्तित्व की माध्यम वैदर्भी। बस प्रकार वामन ने पांचाली की उद्भावना द्वारा वास्तव में एक अभाव अथवा असंगति का ही निराकरण किया है, अनावश्यक नवीनता का प्रदर्शन नहीं।

मम्मट के आधार पर भी यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाए तो भी रीतियों या वृत्तियों की संख्या तीन ही ठीक बैठती है : माधुर्यगुण-विशिष्ट उपनागरिका और ओजोमयी परुषा क्रमशः द्रवणशील मधुर स्वभाव और दीप्तिमय ओजस्वी स्वभाव की प्रतीक हैं। मधुर और ओजस्वी के अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार का भी स्वभाव होता है जिसमें न माधुर्य का अतिरेक होता है और न ओज का—वरन् इन दोनों का संतुलन रहता है। इसको सामान्य (नार्मल) या स्वस्थ-प्रसन्न (विशद) स्वभाव कह सकते हैं। मानव-स्वभाव का यह भेद भी इतना ही स्पष्ट है जितने कि मधुर और ओजस्वी। अतएव इसकी अभिव्यंजक कोमला रीति या वृत्ति का अस्तित्व भी मानना उचित ही है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में रीति

भारतीय काव्यशास्त्र तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र में विचित्र साम्य है और यह साम्य केवल मूल सिद्धान्तों में ही नहीं है, रूप-भेदों में भी है । भारतीय रीति और पाश्चात्य शैली-विवेचन की पारस्परिक समानता तो वास्तव में आश्चर्यजनक है । यूरोप में शैली का प्रारम्भिक विवेचन और विकास बहुत कुछ उसी पद्धति पर हुआ है जिस पर भारतीय रीति का—अथवा कालक्रमानुसार यह कहना संगत होगा कि भारतीय रीति-निरूपण प्रायः उसी पद्धति पर हुआ है जिस पर यूरोप में यूनानी और रोमी आचार्यों का शैली-विवेचन, क्योंकि यूनानी तथा कतिपय रोमी आचार्य भारत के काव्याचार्यों के पूर्ववर्ती हैं इसमें संदेह नहीं । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह साम्य पारस्परिक सम्पर्क अथवा प्रभाव का द्योतक नहीं है—मानव-चिंतन की मूलभूत एकता का द्योतक यह साम्य बहुत कुछ आकस्मिक ही था ।

यूरोपीय आलोचना के उदय-युग के तीन चरण हैं :

१. यूनानी व्यंग्य नाटकों में प्राप्त सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक आलोचना—इस दृष्टि से ऐरिस्टोफेनीस का नाटक 'फ्राग्स' अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।
२. यूनानी दार्शनिकों का सौन्दर्य-विवेचन । २. यूनानी-रोमी रीति-शास्त्रियों का रीति-विवेचन ।

ऐरिस्टोफेनीस ने 'फ्राग्स' नामक व्यंग्य-नाटक में अपने युग के नाट्यकारों तथा उनकी शैली आदि का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है । उन्होंने यूरिपाइडीज़ और ऐस्काइलस नामक प्रसिद्ध नाट्यकारों के विवाद द्वारा अपने युग में प्रचलित दो विरोधी काव्य-शैलियों का अत्यन्त स्पष्ट

निर्देश किया है। यूरिपाइडीज सरल और सहज शैली का समर्थक है। वह एक ओर सहज मानवीय^१ भाषा और वाणी की स्वाभाविक^२ स्वतंत्रता का प्रबल पक्षपाती है, दूसरी ओर कृत्रिम गर्जन^३-तर्जन तथा शब्दाडम्बर का घोर विरोधी। इसके विपरीत ऐसकाइलस उदात्त शैली को महत्व देता है—वह इस कथित सहजता को निस्सार मानता है। उसकी मान्यता है कि विषय-वस्तु^४ तथा भाव के गौरव के साथ भाषा भी अनिवार्यतः गौरव-सम्पन्न हो जाती है। इस प्रकार यूरोपीय साहित्य-शास्त्र के आदिम काल में ही इन दो परस्पर-विरोधी शैलियों का अन्तर स्पष्ट हो गया था : वहाँ भी भारतीय वैदर्भी और गौड़ी के समान दो काव्य-रीतियाँ आरम्भ से ही प्रचलित तथा स्वीकृत थीं।

प्लेटो

व्यंग्य-नाटकों के उपरान्त यवन दार्शनिकों के ग्रंथों में प्रसंगानुसार काव्यालोचन की झोंकियाँ मिलती हैं। प्लेटो तथा अरस्तू आदि ने शैली को तत्त्व रूप में प्रायः हेय ही माना है, परन्तु व्यवहार रूप में उन्होंने भी प्रस्तुत विषय पर अत्यन्त महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं—अरस्तू ने तो रीतिशास्त्र (रूट्रिक) नाम से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखा है। प्लेटो ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ गणराज्य (रिपब्लिक) में काव्यभाषा (शैली) का विवेचन इस प्रकार किया है : 'काव्य-भाषा (शैली) के ये दो भेद हैं। + + + इनमें से पहली में कोई बड़ा उतार-चढ़ाव नहीं होता। भाषा के अनुकूल संगीत तथा लय का माध्यम प्राप्त हो जाने पर वह समगति से चलती रहती है।

तो फिर दूसरी का क्या स्वरूप है ? क्या उसे सर्वथा विपरीत माध्यम की अपेक्षा नहीं होती ? सभी राग और सभी लयें उसके लिए अपेक्षित होती हैं—क्यों कि उसमें अत्यधिक परिवर्तन होते रहते हैं। + + +

१ Oh let us atleast use the language of men ! (यूरिपाइडीज)

२ Next I taught all the town to talk with freedom. (")

३ I never crashed and lightened. (")

४ When the subject is great and the sentiment, then, of necessity, great grows the word. (ऐसकाइलस)

सभी कवि और लेखक इनमें से एक काव्य-शैली का अथवा इन दोनों के मिश्रण से निर्मित मिश्र शैली का प्रयोग करते हैं ।

इस प्रकार प्लेटो के अनुसार तीन शैलियाँ हैं—१. सहज-सरल २. विचित्र और ३. मिश्र । इनमें से प्लेटो मिश्र शैली को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं : सरल के विषय में भी उनकी सम्मति अच्छी है, परन्तु विचित्र को वे निकृष्ट मानते हैं जो बालकों, भृत्यों तथा ग्रामीणों को प्रिय होती है । कहने की आवश्यकता नहीं कि ये तीनों मार्ग कुन्तक के सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम मार्गों से अभिन्न हैं ।^१

इसके अतिरिक्त एक स्थान पर प्लेटो ने काव्य-शैली के कतिपय भौगोलिक भेदों की ओर भी संकेत किया है । वास्तव में ये भेद संगीत के हैं किन्तु ये काव्य के माध्यम भी हैं ।

“करुण राग कौन से हैं ? + + +
मिश्रित लिडियन और हाईपर (आत्यंतिक) लिडियन ।

+ + + +
कोमल तथा प्रसन्न राग कौन से हैं ?

ये हैं आयोनियन और लिडियन ।

किन्तु क्या, इनका प्रयोग हम योद्धाओं के लिए भी कर सकते हैं ?

नहीं—कदापि नहीं । इनके लिए डोरियन और फ़िजियन शेष हैं ।^१

उपर्युक्त नामों का आधार आरम्भ में निस्संदेह ही भौगोलिक रहा होगा—तदुपरान्त वे विशेष गुणों के वाचक हो गये । वैदर्भ और गौड़ आदि के विषय में भी यही हुआ ।

अरस्तू

प्लेटो के उपरान्त अरस्तू ने काव्य-शैली का विस्तार-पूर्वक विवेचन-विश्लेषण किया है । वैसे तो उन्होंने अपने ग्रन्थ काव्यशास्त्र^२ में भी इस

१ ग्रीक लिटरेरी क्रिटिसिज़्म (डेनिस्टन, पृ० ६३)

२ पोयटिक्स

प्रसंग का निर्देश किया है, परन्तु उनके दूसरे ग्रन्थ 'रीतिशास्त्र' का तो एक मात्र विषय ही यही है।

अपने समय के दार्शनिकों की भाँति अरस्तू ने भी एक स्थान पर शैली को एक ग्राम्य (स्थूल तथा अनुदात्त^१) विषय माना है। परन्तु अन्यत्र विवेचन के समय उन्होंने शैली के महत्व को असंदिग्ध शब्दों में स्वीकार किया है : 'अब हम शैली का विवेचन करते हैं क्योंकि केवल वर्य विषय पर अधिकार होना पर्याप्त नहीं है किन्तु यह आवश्यक है कि हम उसको उचित रीति से प्रस्तुत करें, और इससे वाणी में वैशिष्ट्य (चमत्कार) का समावेश होता है।

+ + + जहाँ तक विषय-प्रतिपादन की स्पष्टता का प्रश्न है अपने मन्तव्य को एक प्रकार से अथवा दूसरे प्रकार से अभिव्यक्त करने से बड़ा अन्तर पड़ जाता है^२।'

अरस्तू गद्य और पद्य की शैली में स्पष्ट भेद करते हैं : कविता तथा गद्य-साहित्य की शैलियाँ भिन्न हैं।

शैली के गुण

अरस्तू के अनुसार शैली के दो मूल गुण हैं : स्पष्टता (प्रसाद) और औचित्य। शैली का गुण यह है कि वह स्पष्ट हो (इसका एक प्रमाण यह कि जब तक शैली भाव को स्पष्ट नहीं करती तब तक वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं होती), और उसका स्तर न तो निम्न हो और न विषय की गरिमा से ऊँचा ही हो—वरन् सर्वथा विषयोचित हो।

प्रसाद :—स्पष्टता का समावेश ऐसी संज्ञाओं और क्रियाओं के प्रयोग पर निर्भर है जो सामान्य प्रयोग में आती हैं^३।'

एक और प्रसंग में अरस्तू ने चार बातों को शैली की स्पष्टता का आधार माना है १—पढ़ने और समझने में सौकर्य २—यति, विराम आदि

१ रूट्टेरिक्स

२ देखिए सेन्ट्सवरी का संग्रह-ग्रन्थ लोसाइ क्रिटीकी पृ० २३.

३ वही पृ० २२, २४

४ ,, २५

की असंदिग्ध स्थिति तथा अनावश्यक पर्यायोक्तियों का अभाव, ३—मिश्र तथा द्वि-अर्थक अभिव्यञ्जना का अभाव ४—अवान्तर वाक्य-खण्डों का अनधिक प्रयोग ।^१

गरिमा (औदार्य) तथा औचित्य : सामान्य प्रयोगों से भिन्नता भाषा को गरिमा प्रदान करती है क्यों कि शैली से भी मनुष्य उसी प्रकार प्रभावित होते हैं जिस प्रकार विदेशियों से अथवा नागरिकों से। इसलिए आप अपनी पद-रचना को विदेशी रंग दीजिए क्यों कि मनुष्य असाधारण की प्रशंसा करता है और जो प्रशंसा का विषय है वह प्रसन्नता का भी विषय होता है। + + +

निरनलिखित तत्व शैली को गरिमा प्रदान करते हैं : नाम के स्थान पर लक्षण का प्रयोग, यदि विषय-वर्णन में किसी प्रकार का संकोच हो तो लक्षण में संकोच का कारण होने पर नाम का प्रयोग और नाम के संकोच-जनक होने पर लक्षण का प्रयोग, अलंकार (रूपक) तथा विशेषण का प्रयोग, एक वचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग ।^२

उपर्युक्त विवेचन भारतीय रीति-सिद्धांत के अत्यन्त निकट है। असाधारण शब्द-प्रयोग भारतीय रीतिकारों का शब्दगुण कांति है, वामन के शब्दगुण कांति में साधारण शब्दों का परिहार रहता है और उनके स्थान पर उज्ज्वल, कांतिमय शब्दों का प्रयोग रहता है। इसी प्रकार संकोच-निवारण के लिए नाम के स्थान पर लक्षण का प्रयोग अथवा लक्षण के स्थान नाम का प्रयोग वामन के अर्थगुण ओजस् तथा सौकुमार्य की ओर संकेत करता है : अर्थगुण ओजस् में पद के स्थान पर वाक्य-रचना और वाक्य के स्थान पर पद का प्रयोग तथा समासगुण के लिए साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग किया जाता है और अर्थगुण सौकुमार्य में अशुभ अर्थ का परिहार करने के लिए पदार्थों से काम लिया जाता है।

किन्तु अरस्तू गरिमा के स्वेच्छाचारी प्रयोग के पक्षपाती नहीं हैं, उस पर वे सुरुचि तथा औचित्य का नियंत्रण अनिवार्य मानते हैं : 'किन्तु (गद्य के

१ हान्स डाइजेस्ट आफ़् पेरिस्टोटिल्स रूट्रिक पृ० १५३ और लोसाई क्रिटिकी पृ० २८ ।

२ लोसाई क्रिटिकी पृ० २६, २८-२९

क्षेत्र में भी काव्य की भाँति) सुरुचि का सिद्धान्त यही है कि विषय के अनु-
कूल ही भाषा शैली का स्तर नीचा या ऊँचा रहना चाहिए। इसलिए
हमारा यह (विदेशी रंग देने का) प्रयत्न लक्षित नहीं होना चाहिए, यह
आभास नहीं मिलना चाहिए कि हम सचेष्ट होकर वाणी का प्रयोग कर
रहे हैं—वरन् यही प्रतीत होना चाहिए कि हमारी वाणी अथवा शैली
सर्वथा स्वाभाविक है। + +'

‘दूसरा गुण है औचित्य। शैली में इस गुण का समावेश उस समय
मानना चाहिए जब वह (वक्ता के) भाव तथा व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करे और
विषय वस्तु के अनुकूल हो।’

रिति के प्रसंग में औचित्य का विवेचन हमारे यहां दो रूपों हुआ
है : एक तो आनन्दवर्धन-प्रतिपादित वक्तृ-औचित्य तथा वस्तु-औचित्य के
रूप में, और दूसरे कुंतक के ‘औचित्य’ गुण के रूप में। इन दोनों रूपों में
ही भारतीय तथा यवन आचार्यों का विवेचन सर्वथा समान है। दोनों ने
वक्ता और विषय के औचित्य तथा सुरुचि को शैली का नियामक माना है।

शैली के दोष

शैली के अरस्तू ने चार मुख्य दोष माने हैं : (१) समासों का अधिक
प्रयोग (२) अप्रचलित शब्दों का प्रयोग (३) दीर्घ, अनुपयुक्त तथा अधिक
विशेषणों का प्रयोग, (४) दूरारूढ़ तथा अनुपयुक्त रूपकों का प्रयोग।

ये चारों दोष वास्तव में गौड़ी के असंयत रूप के दोष हैं—इनसे
रचना में शब्दाडम्बर का समावेश हो जाता है। इनमें अप्रचलित शब्दों का
प्रयोग और दीर्घ तथा अनुपयुक्त विशेषणों का प्रयोग वामन के अन्यार्थ
(मम्मटादि के अप्रयुक्त) तथा नेयार्थ सदृश पदार्थ-दोषों में आ जाते हैं।

दूरारूढ़ तथा अनुपयुक्त रूपकों का प्रयोग भी वामन के संदिग्ध,
अप्रयुक्त जैसे वाक्यार्थ दोषों अथवा मम्मटादि के कष्टार्थ आदि दोषों में
अन्तर्भूत हो जाते हैं। अधिक समास-प्रयोग गौड़ी की विशेषता है जिसका
अतिचार निश्चय ही दोष है।

शैली के भेद

अरस्तू ने भी शैली के भेद किये हैं। उन्होंने पहले तो दो मुख्य भेद माने हैं : १. साहित्य-शैली^१ २. विवाद-शैली^२। फिर विवाद-शैली के दो उपभेद किए हैं—(क) संसदीय शैली तथा (ख) न्यायालय की शैली। संसदीय शैली वृहत् भीति-चित्र-शैली के समान होती है : दोनों में सूक्ष्म-श्रंगन के लिए स्थान नहीं है, वास्तव में सूक्ष्म-श्रंगन से उसकी हानि ही होती है। न्यायालय-शैली आलंकारिक प्रसाधनों पर कम से कम निर्भर रहती है : इसमें सम्बद्ध तथा असम्बद्ध का भेद अत्यन्त स्पष्ट रहता है और आडम्बर का सर्वथा अभाव होता है।

इनके अतिरिक्त शैली के मधुर तथा उदात्त आदि भेद करना अनावश्यक है क्योंकि फिर तो संयत और उदार आदि अनेक भेद और भी हो सकते हैं^३।

भारतीय काव्य-शास्त्र की दृष्टि से उपर्युक्त विवेचन में एक ओर कोमला तथा परुषा वृत्तियों की ओर संकेत है, दूसरी ओर माधुर्य, ओज आदि गुणों पर आश्रित भेदों को अनावश्यक विस्तार माना गया है।

सिसरो तथा अन्य रोमी रीतिकार

काल-चक्र के प्रभाववश संस्कृति का केन्द्र यूनान से हटकर रोम में स्थानान्तरित हो गया। अरस्तू की परम्परा टेरेन्स, सिसरो, होरेस तथा क्विन्टीलियन आदि रोमी तथा डायोनीसियस और डेमेट्रियस प्रभृति यूनानी रीति-शास्त्रियों के ग्रन्थों में विकसित हुई। कालक्रमानुसार पहले सिसरो (प्रथम शताब्दी ईसा-पूर्व) के रीति-विवेचन को लीजिए। सिसरो का विवेचन स्पष्ट, पुष्ट तथा उनके व्यक्तित्व के तेज से दीप्त है।

व्यक्ति-तत्त्व :— उन्होंने शैली के व्यक्ति-तत्त्व तथा वस्तु-तत्त्व दोनों को सम्यक् महत्व दिया है। उनका मत है कि प्रत्येक व्यक्ति की शैली निरन्तर

१ लिटरेरी स्टाइल।

२ ऐगोनिस्टिक स्टाइल।

३ देखिए ग्रीक लिटरेरी क्रिटिसिज़्म (डैनिसन) -पृ० १४१ और १४३।

परिवर्तनशील मानव-प्रकृति और रुचि के अनुसार बदलती रहती है—इस प्रकार सिसरो शैली को वक्तव्य की अभिव्यंजना मानते हैं । भारतीय आचार्यों ने भी इस प्रसंग में यही अभिमत व्यक्त किया है—उनकी शब्दावली भी प्रायः समान है :

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्

+ + + +

तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः ॥

(दण्डी—काव्यादर्श प्र० प०)

अर्थात् वाणी की अनेक शैलियाँ हैं जिनमें परस्पर सूक्ष्म भेद हैं । प्रत्येक कवि की अपनी भिन्न शैली होती है—इस प्रकार शैली के भेदों का वर्णन अशक्य है ।

औचित्य :— व्यक्ति-तत्त्व के अतिरिक्त सिसरो के अनुसार शैली के दो नियामक तत्व और भी हैं : परिस्थिति (प्रसंग—अथवा विषय) तथा प्रयोजन । इनका भी प्रकारान्तर से भारतीय रीति-शास्त्र में आनन्दवर्धन तथा मम्मटादि उल्लेख कर चुके हैं : सिसरो के ये दोनों तत्व आनन्दवर्धन के वस्तु-औचित्य तथा रसौचित्य के अन्तर्गत आ जाते । और, आगे चलकर सिसरो ने औचित्य^१ को शैली का मूल तत्व माना भी है : ‘औचित्य का विचार कला का मूल तत्व है परन्तु फिर भी यही एक ऐसा तत्व है जिसका शिक्षण कला द्वारा सम्भव नहीं है ।’

शैली के आधार-तत्व :— सिसरो ने शैली के तीन तत्व माने हैं : १. उपयुक्त शब्द-चयन—साधारणतः प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग श्रेयस्कर है, किन्तु शैली को उदात्त एवं रंजक रूप देने के लिए असामान्य शब्दों का प्रयोग भी उचित है—पर ये शब्द ग्राम्य, प्रादेशिक अथवा क्षुद्र न हो ।

२. स्पष्टता : भाषा स्पष्ट, मुहावरेदार और चलती होनी चाहिए ।

३. पद-रचना (बन्ध) : चुने हुए शब्दों की रचना सामञ्जस्यपूर्ण होनी चाहिए ।

४. वर्ण-गुम्फ : स्वर और व्यंजनों की योजना श्रुतिकटु तथा कर्कश नहीं होनी चाहिए ।

उपर्युक्त चारों तत्वों का आख्यान भारतीय रीति शास्त्र में अत्यन्त विस्तार के साथ किया गया है । जैसा कि मैंने आरम्भ में स्पष्ट किया है वर्ण-गुम्फ तथा पद-रचना भारतीय शैली के बाह्य तत्व हैं । स्पष्टता तथा शब्द-वैचित्र्य का अन्तर्भाव हमारे दश गुणों में—अर्थव्यक्ति तथा शब्द-गुण कांति आदि में—हो जाता है ।

शैली के भेद :— सिसरो के समय दो भिन्न शैलियों में प्रतिस्पर्धा आरम्भ हो गई थी—ये शैलियाँ थी ऐटिक और एशियाटिक । ऐटिक शैली सहज, सरल, स्वच्छ, यथातथ्य वस्तु-निरूपिणी तथा अनलंकृत होती थी । इसके गुण थे परिष्कृति तथा संयम, आडम्बर का अभाव । यह कांति तथा समास गुण से विभूषित थी ।

इसके विपरीत एशियाटिक शैली अतिशय अलंकृत तथा चमत्कारपूर्ण होती थी ।

इन दोनों में ऐटिक शैली का आदर अधिक था—सिसरो ने भी उसी को श्रेष्ठ माना है । परन्तु उन्होंने शुद्धतावादियों का विरोध करते हुए लिखा है कि ऐटिक शैली के लिए कठोर संयम की आवश्यकता नहीं है—अन्यथा वह विरस और निष्प्राण हो जाती है । अतएव उसे नाद और लय की समृद्धि तथा रचना-सौन्दर्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । इस प्रकार उन्होंने एक ओर एशियाटिक शैली के सुरुचिहीन अतिचारों और दूसरी ओर ऐटिक शैली की संकीर्णता का तिरस्कार कर ऐटिक शैली के उदार रूप की प्रतिष्ठा की ।

उपर्युक्त विवेचन प्रकारान्तर से वैदर्भी और गौड़ी रीतियों का ही विवेचन है । जिस प्रकार वैदर्भी और गौड़ी का आधार आरम्भ में भौगोलिक था किन्तु बाद में ये दोनों नाम गुण-वाचक बन गये, इसी प्रकार ऐटिक और एशियाटिक भी आरम्भ में क्रमशः एथेन्स नगर और एशियाई यवन-प्रदेशों से सम्बद्ध थे, परन्तु बाद में विशेष गुणों के प्रतीक बन गये । इसके अतिरिक्त दोनों में पूर्ण रूप-साम्य भी है : ऐटिक वैदर्भी का और एशियाटिक गौड़ी का पाश्चात्य रूपान्तर मात्र है ।

होरेम

रोम के प्रसिद्ध रीतिशास्त्रकार होरेस का ग्रन्थ 'आर्स पोयटिका' वास्तव में रीतिशास्त्र का ग्रन्थ न होकर काव्यशास्त्र का ग्रन्थ है। फिर भी उन्होंने उसमें शैली तथा काव्य-भाषा के प्रश्न पर प्रकाश डाला है। उनका मत है कि काव्य-शैली के विषय में पहली बात तो यह है कि उसमें विवेक से काम लेना चाहिए। अन्यत्र उन्होंने शब्द-चयन, शब्द-योजना तथा अपनी समकालीन काव्य-शैलियों का विश्लेषण किया है। शब्द-चयन के विषय में उनका कथन है कि आडम्बरपूर्ण शब्दों को काट छुँट देना चाहिए, कठोर शब्दों को मसृण कर देना चाहिए, और शक्ति तथा गरिमा से शून्य शब्दों का एकान्त बहिष्कार कर देना चाहिए। किन्तु इस तीसरी श्रेणी में वे घिसे-पिटे और निष्प्राण शब्दों का ही तिरस्कार करते हैं, नित्यप्रति के प्रयोग के सामान्य शब्दों का नहीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने समृद्ध शब्दावली के आदान पर बल दिया है जिसके लिए कवि को यह अधिकार है कि वह प्रचलित शब्दों को ग्रहण कर सकता है तथा लैटिन धातुओं से यूनानी व्युत्पत्ति के आधार पर नवीन शब्दों का निर्माण कर सकता है। व्युत्पन्न कवि प्रचलित शब्दों को विचित्र रंग देकर उन्हें काव्योपयोगी बना सकता है। काव्य-शैली का दूसरा प्रमुख गुण है बंध—शब्द योजना : होरेस ने उसे शैली का प्रमुख तत्व माना है। और, तीसरा गुण है स्पष्टता। कहने की आवश्यकता नहीं कि होरेस द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त शैली तत्व भारतीय गुणों में सहज ही अन्तर्भूत हो जाते हैं : विवेक औचित्य का ही दूसरा नाम है। समृद्ध, वैचित्र्य-पूर्ण तथा मसृण शब्दावली का वामन के शब्द-गुण कान्ति सौकुमार्य आदि में अन्तर्भाव हो जाता है। गरिमा तथा शक्ति से शून्य निष्प्राण शब्दों का बहिष्कार ग्राम्य आदि शब्द-दोषों का अभाव है। इसी प्रकार बंध का महत्व भारतीय रीतिकारों ने भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है।

अन्य रीतिकारों की भाँति होरेस ने भी अपने युग के उस विवाद की चर्चा की है जो ऐटिक और एशियाटिक (नवीन) शैलियों को लेकर चला था। उन्होंने भी सिसरो की तरह—और भारत में भामह की तरह, यही माना है कि निरपेक्ष रूप से इनमें से एक को श्रेष्ठ और दूसरी को निकृष्ट कहना उचित नहीं है—शैली के विषय में कोई निश्चित, बंधे हुए नियम नहीं हैं : अन्तिम प्रमाण विवेक अथवा औचित्य ही है।

डायोनीसियस (३०—ईसा-पूर्व)

पाश्चात्य रीतिशास्त्र की विकास-परम्परा में डायोनीसियस का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। होरेस की प्रवृत्ति काव्यशास्त्र की और अधिक थी, परन्तु इस यूनानी आचार्य का मुख्य प्रतिपाद्य रीति-सिद्धान्त ही था। इनके ग्रन्थ का नाम ही 'पद-रचना' (या 'रीति') है।

पद-रचना :—

डायोनीसियस ने शब्द-चयन की अपेक्षा शब्द-योजना पर अधिक बल दिया है : उनका कथन है कि काव्याभिव्यञ्जना में सौन्दर्य का आधार शब्दावली नहीं है वरन् शब्द-गुम्फ या पद-रचना ही है। सुन्दर शब्दों का अभोष्ट प्रभाव तभी पड़ता है जब उनकी योजना भी सुन्दर हो। यही कलात्मक पद-रचना काव्य-शैली का मूल तत्त्व है। इस प्रकार डायोनीसियस और वामन का सिद्धान्त सर्वथा समान है। कलात्मक पद-रचना ही वामन की विशिष्ट पद-रचना अथवा रीति है : और उसकी प्रमुखता की घोषणा 'रीतिरामा काव्यस्य' की ही घोषणा है।

रीति में व्यक्ति-तत्त्व : प्लेटो और सिसरो की भाँति डायोनीसियस भी शैली को व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति मानते हैं। पद-रचना या रीति कोई यांत्रिक क्रिया नहीं है : उसमें व्यक्तिगत वैशिष्ट्य सदैव रहता है। इसके अतिरिक्त शैली के नियामक तत्त्व और भी हैं : भाव तथा विषयवस्तु।—शैली अर्थ अथवा मूल संवेद्य की अनुवर्तिनी होती है। इस प्रकार डायोनीसियस व्यक्तित्व, भाव (रस) तथा वस्तु का नियमन स्वीकार करते हुए शैली के व्यक्ति-तत्त्व, और अवयवों का वस्तुगत विश्लेषण कर उसके वस्तु-तत्त्व—दोनों का ही महत्व देते हैं।

शैली के तत्त्व : डायोनीसियस के अनुसार शैली के मुख्य तत्त्व हैं : शुद्धता, स्पष्टता और समासगुण। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य तत्त्व भी हैं जो गौण हैं जैसे सजीवता, उदात्तता, गरिमा, शक्ति, शोभा, आदि—और विशेष रूप से औचित्य जिसे वे काव्य का सर्वश्रेष्ठ गुण मानते हैं। भारतीय रीति-शास्त्र में उपर्युक्त प्रायः सभी गुणों का दण्डी, वामनादि ने दश गुणों में अंतर्भाव कर लिया है। स्पष्टता प्रसाद, अर्थव्यक्ति आदि में अंतर्भूत है, समासगुण श्लेष में, उदात्तता, गरिमा, शक्ति सजीवता आदि ओज तथा

औदार्य में, और शोभा माधुर्य तथा सौकुमार्य में। आगे चलकर डायोनीसियस ने शैली के वर्ण-गुण आदि बाह्य तत्वों का विवेचन किया है। उनका निष्कर्ष है कि शब्द का सौन्दर्य वर्णों के सौन्दर्य पर आश्रित है। उन्होंने स्वरों और व्यंजनों के संगीत का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। दीर्घ स्वर अधिक संगीतमय होते हैं और ह्रस्व स्वरों में संगीत तत्व कम होता है। व्यंजनों में वे ल, म, न, र आदि में संगीत की मात्रा स्वीकार करते हैं—शेष व्यंजनों को वे निश्चय ही अमधुर मानते हैं। कुशल कलाकार स्वरों और व्यंजनों की संयोजनाओं द्वारा अपनी शैली में वर्ण-संगीत का समावेश करता है। किन्तु वर्ण-संगीत से तात्पर्य केवल कोमल वर्ण-योजना से नहीं है—वर्ण-संगीत का सम्बन्ध तो प्रेरक भाव या रस से है। होमर प्रायः कठोर वर्णों के साथ मधुर-कोमल वर्णों को गुम्फित कर रसानुकूल कलात्मक सामंजस्य की सृष्टि कर लेता है। हमारे वर्ण-विवेचन और डायोनीसियस के इस वर्ण-विवेचन में कितना साम्य है ! हमारे यहां भी स्वरों को व्यंजनों की अपेक्षा अधिक सुकुमार और संगीतमय माना गया है—इसीलिए तो वर्णानुप्रास गौड़ीया रीति का गुण है। व्यंजनों में, भारतीय रीतिशास्त्र में भी, ल, म, न आदि का माधुर्य सर्व-स्वीकृत है। इसके अतिरिक्त केवल कोमल वर्ण-योजना को हमारे रीतिशास्त्र में भी अधिक स्पृहणीय नहीं माना गया—अति-सौकुमार्य पांचाली का गुण है जो स्त्रैण रीति मानी गयी है। डायोनीसियस ने होमर के जिस कलात्मक संगुफन की प्रशंसा की है, वामन के शब्द-गुण प्रसाद में भी कुछ वैसा ही संकेत है—डायोनीसियस कठोर और कोमल वर्णों के सुरुचिपूर्ण समंजन को श्लाघ्य मानते हैं, वामन ने गाढ़ और शिथिल पद-बंधों के सामंजस्य को प्रसादगुण का मूल आधार माना है।

शैली के भेद :— डायोनीसियस भी अपने पूर्ववती आचार्यों की भांति शैली के तीन भेद मानते हैं। थ्योफ्रास्टस के समान वे भी यह मानते हैं कि काव्य-भाषा तीन प्रकार की होती है : उदात्त और अलंकृत, प्रसादमय (सरल), तथा मिश्र—और तदनुसार रचना के भी तीन भेद हैं—कठिनोदात्त^१, मसृण या सज्जित^२, मिश्र अथवा समंजित^३।

१. कठिनोदात्त शैली के मूल तत्व हैं गरिमा, तीव्रता, अनगढ़ शक्ति आदि। इसमें प्रभावोत्पादक तथा असाधारण शब्दों का प्रयोग होता

१ ऑस्टीयर

२ स्मूथ या फ्लोरिड

३ मिक्स्ड

है और कृत्रिम मसृणता, ऋजुता आदि का नियमित रूप से बहिष्कार रहता है। इसी शैली में अनियमित पद-रचना तथा कर्कश-ध्वनियों से उत्पन्न काठिन्य होता है। इस प्रकार यह शैली एक अनगढ़ तथा अनलंकृत शैली है।

डायोनीसियस के शब्दों में—

“कठिनोदात्त शैली के विशिष्ट गुण इस प्रकार हैं : इसमें शब्द स्तम्भों की भाँति दृढ़ता से नियोजित रहते हैं। यह कर्कश ध्वनियों के प्रयोग से तनिक भी नहीं घबराती—(वरन् उनका उसी प्रकार उपयोग करती है) जैसे भवन-निर्माण में अनगढ़ प्रस्तर-खण्डों का होता है। इसकी प्रवृत्ति दीर्घ (समस्त) शब्दावली के माध्यम से विस्तार की ओर रहती है। विशेष स्थितियों को छोड़ इसमें लघु वर्णों का प्रयोग चिन्त्य समझा जाता है। इसकी वाक्य-रचना में उदात्त लयों का प्रयोग होता है, वाक्यांशों की रचना किसी समानुपात अथवा कठोर नियंत्रण के अधीन नहीं होती—वह भव्य, उज्ज्वल और स्वच्छन्द होती है। + + +
इसमें सज्जा के लिये अवकाश नहीं है : इसमें एक प्रकार का आभिजात्य तथा प्रकृत मुखरता होती है—और किसी प्रकार की पालिश नहीं होती।”

२. मसृण या सज्जित शैली का मूल गुण है सहज सौकुमार्य—इसमें न तो प्राचीन शब्दावली का प्रयोग होता है और न काव्य-रूढ़ शब्दावली का। इसमें साधारण शब्द अपने साधारण अर्थ में प्रयुक्त होते हैं—और उनके प्रयोग में सरलता तथा अनेकरूपता रहती है जिसकी एक अपनी नवीनता होती है।

“मसृण या सज्जित शैली के गुण निम्नलिखित हैं : + + +
इसकी भाषा में स्वच्छन्द प्रवाह होता है—इसके शब्द एक दूसरे के पश्चात् सहज-सम्बद्ध रूप से चिरप्रवाहित धारा के समान निरंतर आगे बढ़ते हैं। इस दृष्टि से यह शैली बारीक बुने वस्त्रों के समान अथवा उन चित्रों के सदृश है जिनमें प्रकाश और छाया अनायास ही एक दूसरे में घुले-मिले रहते हैं। इसकी शब्दावली संगीतमय, मसृण तथा किशोरी के मुख के समान कोमल होती है। इसमें कर्कश तथा कर्णकटु वर्णों का अभाव रहता है, और, जोखिम के, असंतुलित प्रयोगों का सायास बहिष्कार किया जाता है। + + +
जहां तक अलंकारों का सम्बन्ध है, इसमें प्रचलित तथा रूढ़ अलंकारों—अथवा गरिमा-गाम्भीर्य आदि के व्यंजक अलंकारों का प्रयोग नहीं होता, वरन् प्रायः

ऐसे अलंकारों का प्रयोग होता है जो मधुर और रम्य हों—जिनमें ललित कल्पना की छलना हो। सामान्य रूप से इस शैली के प्रमुख एवं मूल तत्त्व कठिनोदात्त शैली के तत्त्वों के सर्वथा विपरीत हैं।” सैक्रो आदि गीति-कवि इसके प्रतिनिधि हैं।

३. मिश्र अथवा समंजित शैली का नाम मध्यमा भी है। इसमें ऐसे साधारण शब्दों का चयन होता है जिनकी प्रवृत्ति तो अलंकृति की ओर होती है, परन्तु वे प्राचीन, अप्रचलित तथा काव्य-रूढ़ नहीं होते। इस मध्यमा अथवा समंजित शैली में एक ओर सुख-सरल मसृष्टता, समानुपात आदि सरल शैली के गुण और दूसरी ओर गरिमा आदि कठिनोदात्त शैली के गुण भी वर्तमान रहते हैं।

“तीसरी शैली उपर्युक्त दोनों शैलियों की मध्यवर्तिनी है। अधिक उपयुक्त नाम के अभाव में मैं इसे समंजित शैली कहूँगा। इसका अपना कोई विशिष्ट रूप तो नहीं होता परन्तु इसमें अन्य दोनों शैलियों के सर्वोत्कृष्ट गुण रहते हैं। मुझे लगता है यही सबसे उत्तम शैली है क्योंकि इसमें मध्यम मार्ग ग्रहण किया गया है, और अरस्तू तथा उनके अनुयायी दार्शनिकों के अनुसार जीवन, व्यवहार तथा कला की श्रेष्ठता मध्यम मार्ग में ही निहित रहती है। + + + । इस शैली का सर्वश्रेष्ठ प्रयोक्ता होमर है—जिसके काव्य में मसृष्ट-कोमल तथा कठिनोदात्त रूपों के कुशल समन्वय द्वारा इस शैली का चरम विकास मिलता है।”

उपर्युक्त भेद सर्वथा मौलिक नहीं है। यूनानी रीतिशास्त्र में इनका उल्लेख आरम्भ से ही मिलता है और प्लेटो और सिसरो ने प्रायः इसी रूप में इनका वर्णन किया है। उधर थ्योफ्रास्टस का ऋण तो स्वयं डायोनीसियस ने ही माना है। भारत में भी वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली इन्हीं के प्रकारान्तर हैं—पांचाली मसृष्ट या सज्जित शैली के निकट है और गौड़ी कठिनोदात्त के, वैदर्भी प्रायः मध्यमा अथवा समंजित शैली की समानान्तर है। उधर कुन्तक के तीन मार्ग-भेद इनके और भी अधिक निकट हैं—वहां नाम साम्य भी है : सुकुमार और मसृष्ट-कोमल एक हैं और मध्यम तो दोनों में समान

१ (ग्रीक लिटरेरी क्रिटिसिज्म मे उद्धृत डब्ल्यू० ए० रोबर्ट्स का अनुवाद।)

ही है। इस प्रकार भारतीय तथा यूनानी-रोमी रीतिशास्त्रों में शैलियों के वर्गीकरण का आधार ही नहीं बरन् उनके तत्वों का विश्लेषण भी बहुत कुछ समान है।

डिमैट्रियस

अरस्तू सिसरो तथा डायोनीसियस की रीति-परम्परा को डिमैट्रियस तथा क्विन्टीलियन ने और आगे बढ़ाया। डिमैट्रियस ने शैली पर एक स्वतन्त्र रीति-ग्रन्थ ही लिखा है। उन्होंने शैली की कोई औपचारिक परिभाषा नहीं की। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति वे भी शैली को लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति और व्यक्ति-तत्त्व को शैली की आत्मा मानते हैं, परन्तु इसके साथ ही वे कुछ ऐसे निर्देशक सिद्धान्तों तथा नियमों का अस्तित्व भी स्वीकार करते हैं जो कलात्मक रचना (रीति) में सहायक होते हैं। इसी प्रकार वे यह भी स्वीकार करते हैं कि वस्तु-विषय शैली का प्रमुख नियामक तत्व है—किन्तु साथ ही उसको प्रस्तुत करने के ढंग पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है।

डिमैट्रियस ने शैली के चार प्रकार माने हैं :

उदात्त^१, मधुर या मसृण^२, प्रसादमय^३ और ओजस्वी^४। इनमें पहले तीन तो सिसरो तथा डायोनीसियस द्वारा प्रतिपादित शैली-भेद ही हैं—ओजस्वी इन्होंने अपनी ओर से और जोड़ दिया है। परन्तु वह भी इनकी अपनी उद्भावना नहीं है—इनसे पूर्व फ़िलोडैमस उपर्युक्त तीन भेदों के अतिरिक्त एक चौथे भेद 'प्रबल'^५ का उल्लेख कर चुके थे।

डिमैट्रियस के अनुसार उदात्त शैली का मूल तत्व है असामान्यता क्योंकि उनका मत है कि 'प्रत्येक सामान्य वस्तु प्रभावहीन होती है।' उदात्त शैली के तत्व इस प्रकार हैं : विशिष्ट तथा विचित्र शब्दावली, समास, अलंकार, काव्य-रूढ़ भाषा का बहुधा प्रयोग। उसकी पदावली उल्बण होती है, मसृण और कोमल के लिए उसमें अधिक अवकाश नहीं होता।

१ ऐलीवेटेड २ एलीगेन्ट (माक्सन ने इसे पालिशड कहा है।) ३ प्लेन
४ फोर्सीबल. ५ वैहेमैट

उसको वर्ण-योजना प्रगाढ़ होती है जिसके आरम्भ में तथा अंत में गुरु वर्णों का प्रयोग रहता है क्योंकि इस प्रकार प्रयुक्त गुरु वर्णों में प्रायः विस्फोट का प्रभाव होता है। इस शैली की पद-रचना में क्रमिक आरोह रहता है और रूपक, पर्यायोक्ति तथा 'अन्योक्ति-रूपक' आदि अलंकारों का सयत्न प्रयोग होता है : रूपकों से शैली में गरिमा और रमणीयता का समावेश होता है, अन्योक्ति—रूपक के प्रयोग से शैली उदात्त बनती है—क्यों कि अन्योक्ति-रूपक रात्रि और अंधकार का व्यंजक है। इसी प्रकार वक्रतामूलक अलंकार तथा समास-गुणयुक्त पदावली का भी यही उपयोग है।

(मधुर अथवा मसृण शैली शोभा और कान्तियुक्त होती है। इसके विषय हैं परियों के उपवन, विवाह-उत्सव-गीत, प्रेम-कथाएं आदि—इस प्रकार की विषय-वस्तु में ही एक प्रकार की उज्ज्वलता एवं कान्ति होती है। इस शैली के उपादान हैं मधुर शब्द, मसृण गुम्फ, छन्द-लय की अन्तर्धारा, आदि। मधुर शब्दों से अभिप्राय ऐसे शब्दों का है जो किसी मधुर चित्र की व्यंजना करते हों अथवा जिनकी ध्वनि मधुर हो : उदाहरण के लिए 'गुलाब-रंजित' शब्द की चित्र-व्यंजना रमणीक है, और 'ल' 'न' आदी वर्णों की ध्वनि मधुर है। मसृण गुम्फ का अर्थ यह है कि वर्ण और शब्द एक दूसरे में घुलते चले जाएं। इस प्रकार रचना में एक मधुर तारल्य आ जाता है—इसे ही डैमेट्रियस ने संगीत की अंतर्धारा कहा है। वे छन्द को नहीं छन्द की व्यंजना को शैली का गुण मानते हैं।

(तीसरी शैली है प्रसादमयी (प्रसन्न) शैली जिसका मूल लक्ष्य है स्पष्टता और सरलता। अतएव इसमें नित्य प्रति की भाषा का प्रयोग रहता है जिससे सभी असामान्य तत्वों, जैसे रूपक, समास, नव-रचित शब्द आदि का बहिष्कार कर दिया जाता है। दीर्घ स्वर-व्यंजन-योजना, विचित्र अलंकार, अत्यधिक समासगुण (श्लेष) आदि समस्त अलंकरण-प्रसाधन इस शैली के लिए त्याज्य हैं। वास्तव में इसका प्राण तत्व है अर्थ-वैमल्य—और अर्थ-वैमल्य के प्रमुख उपादान हैं १. सामान्य शब्दावली २. सामान्य पद-रचना ३. लघु वाक्य ४. लघु वर्ण-योजना ५. आनुगुणत्व (एक्यूरेसी)—अर्थात् 'अन्यून-अनतिरिक्त' शब्द-प्रयोग। ये ही प्रसन्न शैली के भी आधारभूत गुण हैं। डैमेट्रियस की चौथी शैली है ओजस्वी। इस शैली के तत्व हैं १. उल्लङ्घ

पदावली, २. समास, ३. सार, ४. सुकुमारोक्ति^१ आदि अलंकारों का प्रयोग ४. शब्द-बाहुल्य एवं व्यासगुण का अभाव और ५. सरलता तथा मसृणता का अभाव । उल्बण पदावली से शक्ति और ओज का संचार होता है—कठोर ध्वनियाँ ओजगुण की व्यंजक हैं और ये प्रायः विषम शब्द-योजना के आश्रित रहती हैं । समास से गाढ़बन्धत्व और उससे रचना में बल आता है । व्यासगुण से शक्ति की हानि होती है—संक्षिप्त सार-गर्भित उक्ति प्रभुता की द्योतक है और विस्तृत व्याख्या से विनय अथवा प्रार्थना का आभास मिलता है । सार आदि अलंकारों में शब्दार्थ का तारतम्यिक आरोह रहता है—इससे शैली प्राणवान बनती है । पाश्चात्य रीतिशास्त्र का एक अलंकार है सुकुमारोक्ति जिसमें अमंगल अथवा अशुभ अर्थ को मांगलिक शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है । हमारे यहां वक्रतामूलक अलंकार—पर्यायोक्त—में इसका अन्तर्भाव हो सकता है । परन्तु वामन का अर्थगुण सौकुमार्य ठीक इसी अर्थ की व्यंजना करता है : जहां परुष (अप्रिय या अशुभ) अर्थ में अपरुष (प्रिय-अथवा शुभ) का प्रयोग हो वहां अर्थगुण सौकुमार्य होता है—यथा मृत के लिए 'यशः शेष' शब्द का प्रयोग ।'

(काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ३, २, १२)

डिमैट्रियस 'सुकुमारोक्ति' को भी ओजस्वी शैली का गुण मानते हैं क्योंकि इससे रचना में गरिमा और गंभीरता का समावेश होता है । उपर्युक्त तत्त्वों का सद्भाव सरलता और मसृणता के अभाव का द्योतक है : यह स्पष्ट है कि इन गुणों के साथ सरल-कोमल शब्दावली की संगति नहीं बैठती ।

उपर्युक्त शैली-विवेचन तथा भारतीय रीति-निरूपण में स्पष्टतया अत्यधिक साम्य है । डिमैट्रियस ने एक स्थान पर लिखा है कि कुछ लोग इन चार शैलियों का दो वर्गों में अंतर्भाव कर केवल दो ही मूल शैलियाँ मानते हैं परन्तु यह प्रयास बेतुका है । यद्यपि डिमैट्रियस अपनी चारों शैलियों के स्वतन्त्र अस्तित्व पर इतना अधिक बल देते हैं, फिर भी—जैसा कि पं० बल्देव उपाध्याय के निर्दिष्ट किया है—इनको दो वर्गों में रखना असंगत नहीं है : प्रसादमयी तथा मसृण शैलियों को एक वर्ग में, और उदात्त तथा ओजस्वी को दूसरे वर्ग में । वास्तव में उदात्त और ओजस्वी का अंतर सूक्ष्म है—उनमें आधार का अन्तर नहीं है सूक्ष्म अवयव का भेद है; अतएव उनको

पृथक् शैलियां मानना वर्गीकरण सिद्धान्त के प्रतिकूल है। वर्ग-विस्तार का मोह भारतीय रीतिकारों को भी रहा है, और उन्होंने इस प्रकार की श्रुतियां प्रायः की हैं। इस प्रकार डिमैट्रियस की अंतिम दो शैलियों को एक ही मानना उचित है, उदात्त के लिए ओज और ओज के लिए उदात्त गुण अनिवार्य है। भारतीय गौड़ी शैली इनके समानान्तर है। वैदर्भी की कल्पना प्रसादमयी तथा मसृण शैलियों से अधिक व्यापक है। प्रसाद वैदर्भी का प्रधान गुण है—अर्थ-वैमल्य उसकी मूल विशेषता है, परन्तु माधुर्य और सौकुमार्य का वैभव भी उसमें रहता है। डिमैट्रियस की मसृण शैली वामन की पांचाली की पर्याय है : माधुर्य-सौकुमार्योपपन्ना पांचाली (का० सू० वृ० १।२।१३)। किन्तु प्रसन्न शैली वैदर्भी की पर्याय नहीं है क्योंकि अकेला प्रसाद गुण वैदर्भी की समृद्धि का वहन नहीं कर सकता। वास्तव में वैदर्भी डायोनीसियस की समंजित शैली और प्लेटो की मध्यमा शैली के ही निकट है जिसमें उदात्त तथा मसृण दोनों शैलियों के श्रेष्ठगुणों का समन्वय रहता है। 'समग्रगुणा वैदर्भी' का भी यही गौरव है, इसीलिए प्लेटो तथा डायोनीसियस ने समंजित शैली को और दण्डी वामनादि भारतीय आचार्यों ने वैदर्भी को सर्वश्रेष्ठ माना है। डिमैट्रियस की ये शैलियां मम्मट आदि की उपनागरिका और कोमला के अधिक निकट हैं : मम्मट के टीकाकारों के अनुसार कोमला प्रसादगुण-विशिष्ट है। इस प्रकार प्रसन्न शैली कोमला की पर्याय है, और मसृण शैली माधुर्य-विशिष्ट उपनागरिका की। संस्कृत काव्यशास्त्र में उपनागरिका को वामन की वैदर्भी का पर्याय माना गया है—परन्तु यह सर्वथा संगत नहीं है।

विकृत शैलियां : ये तो इन शैलियों के वास्तविक रूप हुए। अनधिकारी के हाथ में पड़कर इनके रूप विकृत भी हो जाते हैं। विकृत रूपों में उपर्युक्त गुणों के विपर्यय मिलते हैं : उदात्त शैली का विपरीत रूप है—आडम्बरपूर्ण शैली। इसमें अनावश्यक रूप से चुद्र विषयों के लिए अत्युक्ति मयी भाषा का प्रयोग रहता है। अत्युक्ति अलंकार सबसे अधिक आडम्बरपूर्ण अलंकार होता है। इस शैली में एक प्रकार की निष्प्रभाव वाचालता रहती है। मधुर या मसृण शैली का विपर्यय है कृत्रिम शैली—इस प्रकार की शैली में बनावट और कुछ स्त्रैणता-सी रहती है। प्रसन्न शैली का विकृत

रूप है—शुष्क^१ या नीरस शैली जिसमें सजीव विषयों का भी वर्णन निर्जीव होता है। चौथी है अोजस्वी जिसका विपरीत रूप है अप्रिय^२ शैली—यह शिथिल-आढम्बरपूर्ण शैली से बहुत कुछ मिलती जुलती है—इसके बन्ध शिथिल और भाषा उखड़ी हुई होती है।

इस प्रकार का विवेचन भारतीय काव्य-शास्त्र में भी है। वामन ने दोषों को गुणों का विपर्यय माना है। दण्डी ने भी प्रत्येक गुण का एक विपर्यय माना है जो कहीं गुण के वैपरीत्य का और कहीं भिन्नता मात्र का द्योतक है। दण्डी के श्लेष—गाढबन्धत्व—का विपर्यय है शैथिल्य। डिमैट्रियस के अनुसार गाढबन्धत्व उदात्त शैली की मूल विशेषता है और शैथिल्य उसकी विपरीत शिथिल-आढम्बरपूर्ण शैली की। डिमैट्रियस की यह शिथिल-आढम्बरपूर्ण शैली भारतीय गौड़ी के विकृत रूप की समानार्थक है। यही डिमैट्रियस की 'अप्रिय शैली' के विषय में कहा जा सकता है—जहां भाषा उखड़ी हुई और शब्द खोखले हों। इसका संकेत वामन के 'वैषम्य' में भी मिल जाता है जो उनके शब्दगुण समता का विपर्यय है। शैली की विषमता का अर्थ यही कि उसमें पद-रचना उखड़ी हुई होती है। नीरस शैली की ओर हमारे यहां अनवीकृत दोष के लक्षण में संकेत है—जहाँ उक्ति में किसी प्रकार की नवीनता एवं वैचित्र्य न हो वहां अनवीकृत दोष होता है। नीरस शैली इसी दोष से दूषित रहती है। इसी प्रकार कृत्रिम शैली की ओर भी भामह ने संकेत किया है : उनका कहना है कि पुष्ट अर्थ तथा वक्रता के अभाव में केवल 'श्रुतिपेशल' शैली वांछनीय नहीं है। डिमैट्रियस ने कृत्रिम शैली के विषय में यही कहा है कि उसमें अर्थ-सौन्दर्य तथा चमत्कार नहीं होता केवल एक प्रकार की बनावट और स्त्रैणता—कृत्रिम कोमलता अथवा श्रुतिपेशलता मात्र रहती है।

लॉन्जाइनस

यूनानी-रोमी काव्य-शास्त्र में लॉन्जाइनस का नाम चिर-ज्वलंत है। परन्तु उनका विषय मूलतः काव्यशास्त्र ही है, रीतिशास्त्र नहीं है। काव्य

के मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन ही उन्हें उभीष्ट रहा है—उन्हीं के प्रसंग में लॉन्जाइनस ने शैली पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं ।

लॉन्जाइनस का अभिमत है कि महान शैली “आत्मा की महत्ता की प्रतिध्वनि है ।” और, इसी दृष्टि से उन्होंने शैली का विवेचन-विश्लेषण भी किया है । उन्होंने शैली के पाँच उद्गम माने हैं : धारणा की भव्यता^१ भावना की तीव्रता^२, अलंकारों का उपयुक्त प्रयोग^३, भाषागत आभिजात्य^४ तथा पदरचना की गरिमा और औदार्य ।^५

भारतीय रीतिशास्त्र में भाषागत आभिजात्य का उल्लेख कुन्तक के आभिजात्य गुण-वर्णन में और पद-रचना की गरिमा और औदार्य का विवेचन औदार्य, कान्ति तथा श्लेष आदि गुणों के विवेचन में किया गया है ।

वास्तव में लॉन्जाइनस का विवेचन सर्वथा भावगत है—उन्होंने शैली के मनोविज्ञान का ही विवेचन किया है तत्त्वों का वस्तुगत विश्लेषण नहीं । अलंकार-प्रयोग में भी उन्होंने अलंकारों के स्वरूप तथा भेद आदि का वर्णन न कर उनकी रागात्मक शक्ति का ही विश्लेषण किया है । पद-रचना के विषय में उन्होंने पद-रचना-सौष्ठव के प्रभाव का सामान्य विवेचन मात्र किया है । इस प्रकार रीति के वस्तुगत विवेचन में लॉन्जाइनस का योग-दान अधिक नहीं है—वास्तव में यह मेधावी आचार्य रीतिवाद से बहुत दूर था । उसका उदात्त सिद्धान्त रस-ध्वनिवाद के अन्तर्गत ही आता है ।

क्विन्टीलियन

लॉन्जाइनस के परवर्ती रोमी आचार्य क्विन्टीलियन वास्तव में रीतिकार थे ।

क्विन्टीलियन के अनुसार शैली का मुख्य आधार है शब्द—शब्द पृथक् रूप में और संयोजित रूप में । शैली के उन्होंने तीन तत्त्व माने हैं ।

१. शब्द-चयन २. अलंकरण ३. (कलात्मक) पद-रचना ।

१ ग्रेन्जर आफ कन्सैप्शन

२ इन्टेन्सिटी आफ इमोशन

३ एप्रोप्रियेट यूस आफ फिगर्न

४ नोविलिटी आफ डिक्शन

५ डिगनिटी एण्ड ऐलीवेशन आफ वर्ड-आर्डर ।

शब्द-चयन :— क्विन्टीलियन चार प्रकार के शब्दों को काव्य के लिए विशेष उपयोगी मानते हैं। कुछ शब्द अपने औज्ज्वल्य और श्रुति-माधुर्य के कारण अन्य शब्दों की अपेक्षा अधिक रुचिकर होते हैं। कुछ शब्दों में साहचर्य अथवा सम्पर्क-जन्य महिमा होती है—महान काव्य में तथा श्रेष्ठ कवियों द्वारा प्रयुक्त किये जाने से उनमें एक विशेष गरिमा आ जाती है। कहीं कहीं सामान्य शब्दों का भी अत्यन्त स्वस्थ प्रभाव पड़ता है। उधर प्राचीन काव्य-रुढ़ शब्दावली का भी अपना गौरव होता है।—इनमें पहले वर्ग के (उज्ज्वल और श्रुतिमधुर) शब्द वामन के शब्दगुण सौकुमार्य और कान्ति आदि में आ जाते हैं। महाकवियों के प्रयोग से गौरवान्वित प्राचीन काव्य-रुढ़ शब्दों का महत्व भारतीय काव्य-शास्त्र में प्राप्त वचनों के रूप में मान्य रहा है। महाकवियों का प्रयोग हमारे यहां असाधु आदि अनेक दोषों का परिहार करने में समर्थ माना गया है।

पद-रचना :— क्विन्टीलियन के अनुसार शैली का दूसरा तत्त्व है पद-रचना। पद-रचना के लिए पहला गुण है स्पष्टता, स्वच्छ पद-रचना अर्थ-वैमल्य की जननी है। अर्थ-वैमल्य के लिए यह आवश्यक है कि शब्दों का प्रयोग नपा तुला हो—न कम हो न अधिक। यही वामन का भी मत है : अर्थ की विमलता से अभिप्राय है आवश्यक मात्र का ग्रहण 'प्रयोजकमात्रपदपरिग्रह।' क्विन्टीलियन ने पद-रचना के इस गुण को अत्यधिक महत्व दिया है। इसके विषय में उनका एक वाक्य अत्यन्त अर्थ-गर्भित है : रचना का उद्देश्य केवल यह नहीं होना चाहिए कि उससे पाठक अथवा श्रोता को समझने में सरलता हो—वरन यह होना चाहिए कि उसके लिए न समझना असम्भव हो जाए। किन्तु यह तो पदरचना का एक पक्ष हुआ—दूसरा पक्ष है सजा पक्ष। पद-रचना कलात्मक भी होनी चाहिए, यह आवश्यक नहीं है कि शब्दों की सहज योजना ही सर्वश्रेष्ठ योजना हो—उसको सुन्दर रूप देने के लिए पुनर्योजना प्रायः आवश्यक हो जाती है। इस पुनर्योजना में वाक्य-योजना, पद-योजना और वर्ण-योजना तीनों का ही समावेश है—क्विन्टीलियन वर्ण-संगीत को भी रचना का विशिष्ट गुण मानते हैं। वामन के शब्दगुण श्लेष तथा औदार्य आदि में भी वाक्य-योजना तथा पद-योजना के सौन्दर्य का संकेत है। शब्दगुण श्लेष का आधार है मसृणत्व जिसमें बहुत से पद भी एक जैसे प्रतीत होते हैं—“यस्मिन् सति बहून्यपि पदानि एकवद् भासन्ते।” औदार्य का आधार है विकटता—जिसमें पद नृत्य-सा करते प्रतीत होते हैं

“यस्मिन् सति नृत्यन्तीषु पदानि ।” ये दोनों बन्ध अर्थात् पद-रचना के ही गुण हैं। वर्णगुम्फ का सौन्दर्य मम्मट आदि के माधुर्य गुण में निहित है जहां ट, ठ, ड, ढ, से रहित क कार से लेकर मकार तक वर्ण अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण के साथ इस प्रकार संयुक्त रहते हैं कि पंचम वर्ण पहले आता है और स्पर्श वर्ण पीछे। रेफ और णकार ह्रस्व स्वर से अन्तरित होते हैं।—

(काव्यप्रकाश ८।७४)

अलंकरण :— क्विन्टिलियन की शैली का तीसरा तत्व है अलंकरण। वे उन अलंकारों को महत्व देते हैं जो कल्पना के आश्रित हैं—जिनमें मूर्ति-विधान की क्षमता है क्योंकि अलंकार का मुख्य उद्देश्य है सजीव चित्रण और वही उसकी सिद्धि है।)

गुणों का वर्णन करते हुए इस रीतिकार ने शैली के कुछ दोषों का भी उल्लेख किया है : ये दोष हैं १. अनुपयुक्त शब्द २. अधिक शब्द ३. आडम्बरपूर्ण तथा अत्यधिक श्रुतिपेशल शब्द और ४. विषम शब्द-योजना। इन दोषों का भारतीय रीतिशास्त्र में प्रायः यथावत् उल्लेख मिलता है। हमारे असमर्थ तथा अधिक पद दोष क्विन्टिलियन के क्रमशः अनुपयुक्त तथा अधिक शब्द दोषों के पर्याय हैं। तीसरे दोष को भारतीय रीतिकारों ने अचराडम्बर कहा है जिसके लिए गौड़जन कुख्यात थे : गौडेऽचरडम्बरः (बाण, हर्षचरित)। विषम शब्दयोजना की भर्त्सना वामन ने शब्दगुण समता के प्रसंग में की है : समता में पद-रचना समंजित रहती है—इसका विपर्यय है विषमता जहां रचना में अनेक रीतियों का अनमेल मिश्रण रहता है।

शैली के भेद :— क्विन्टिलियन के पूर्व से ही शैली के तीन भेद परम्परा से चले आ रहे थे : प्रसन्न (सरल), उदात्त तथा मध्यम अथवा सज्जित। क्विन्टिलियन सामान्य रूप से इन्हें स्वीकार कर लेते हैं। उनका मत है कि इन तीनों शैलियों के तीन पृथक् उद्देश्य हैं : प्रसन्न (सरल) शैली शिक्षा के लिए अत्यन्त उपयुक्त है, उदात्त शैली का लक्ष्य है भावों को उद्बुद्ध करना, और सज्जित शैली का उद्देश्य है मनःप्रसादन। किन्तु क्विन्टिलियन इस विभाजन को सर्वथा निर्दोष तथा पूर्ण नहीं मानते—उनका स्पष्ट मत है कि इस प्रकार का विभाजन स्थूल है : सभी शैलियों को इन तीन वर्गों में परिसीमित नहीं किया जा सकता—‘शैली के अनेक मार्ग हैं’।

इन तीन भेदों के अतिरिक्त क्विन्टिलियन ने तीन भौगोलिक भेदों का भी उल्लेख किया है—“प्राचीन काल से लेखकों के दो प्रसिद्ध वर्ग मान्य रहे हैं—ऐटिक और एशियाटिक । पहले वर्ग के कवियों की शैली समासगुणयुक्त और सजीव मानी गयी है और दूसरे वर्ग के कवियों की शैली वाचाल और निस्सार । सन्ना आदि कुछ विद्वानों का मत है कि जब यूनानी भाषा धीरे धीरे समीपस्थ एशियाई देशों में फैलने लगी तो वहां के निवासी जो भाषा में व्युत्पन्न तो नहीं थे किन्तु जिन्हें उसमें भाषणादि देने की आकांक्षा थी सीधी सादी बात को आडम्बरपूर्ण शब्दावली में व्यक्त करने लगे, और वही शैली स्वीकार कर ली गयी । किन्तु मेरा विचार है कि वक्ताओं का स्वभाव-वैचित्र्य और श्रोता-समाज की विभिन्नता ही शैली-भिन्नता का कारण है । एथेन्स के निवासियों का रहन-सहन संस्कृत और विचार-धारा स्पष्ट थी—अतएव उन्हें निस्सार शब्दाडम्बर असह्य था । एशिया के लोग लम्बी-चौड़ी हाँकने के अभ्यस्त थे, अतएव उनकी शैली में आडम्बर होता था । इनके अतिरिक्त एक तीसरी शैली का भी उदय हुआ : इसका नाम था र्होडियन । यह शैली दोनों की मध्यवर्ती थी । उसमें न तो ऐटिक शैली का अत्यधिक संयम था और न एशियाटिक शैली की मुखरता । + + + इसकी समता न तो निर्मल फव्वारों से की जा सकती थी और न संकुल जल-प्रपातों से, यह तो शान्त गति से बहते हुए सरोवर के समान थी ।”

भारतीय रीतिशास्त्र में वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली का वर्ग-विभाजन उपर्युक्त विभाजन के बहुत निकट है । दोनों का आधार आरम्भ में भौगोलिक था, फिर क्रमशः विशेषता का वाचक हो गया : परन्तु प्रादेशिक छाप उसकी मिटी नहीं । ऐटिक शैली वैदर्भी से दूर नहीं है—जिस प्रकार अपने यहां विदर्भ लोगों की रुचि संस्कृत तथा कलात्मक थी, इसी प्रकार प्राचीन यूरोप में ऐटिक लोगों की भी थी । इसीलिए उनकी शैली परिष्कृत, सज्जित तथा कलात्मक थी । एशियाटिक शैली गौड़ी की पर्याय है । आरम्भ में एशिया निवासियों की भाँति गौड़ों को भी शब्दाडम्बर और वाचालता के प्रति आकर्षण था—धीरे धीरे दोनों की भौगोलिकता नष्ट हो गई । तीसरी शैली र्होडियन दोनों की मध्यवर्तिनी है ।—पं० बल्देव उपाध्याय ने इसे पांचाली के समकक्ष माना है, परन्तु यह संगत नहीं है क्योंकि र्होडियन दोनों की मध्यवर्तिनी है और पांचाली मध्यवर्तिनी नहीं है । पांचाली में

माधुर्य और सौकुमार्य—ये दो कोमल गुण ही होते हैं, कोमल और परुष का समन्वय नहीं मिलता। अतएव र्होडियन शैली पांचाली नहीं है।

क्विन्टिलियन के बाद यूरोप के काव्य-शास्त्र में एक प्रकार का अन्धकार-युग-सा आ जाता है। रोम के पतन से लेकर पुनर्जागरण काल तक का समय यूरोप के इतिहास का मध्ययुग कहलाता है। जैसा कि सेन्ट्सबरी ने लिखा है, मध्ययुग वास्तव में आलोचना का युग नहीं था—वह अबाध सृजन का युग था। काव्य, नाटक, इतिहास, गति सभी क्षेत्रों में मौलिक सर्जना दुर्दाम वेग से चल रही थी जिसमें आलोचना के लिए अवकाश नहीं था। इतिहासकारों ने मध्ययुग के तीन भाग किये हैं। आरम्भिक मध्ययुग में तीन रीतिशास्त्रियों के नाम हमारे सामने आते हैं : बोड, इसीडोर और ऐलकुइन। इनका मुख्य विषय अलंकार था और दृष्टिकोण परम्परावादी था। केवल ऐलकुइन ने शैली पर कुछ विचार व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार शैली का प्रथम गुण है व्याकरण की दृष्टि से शुद्धता, और स्वच्छ शब्द-योजना। शब्दों के चयन में कांतिमय शब्दों को महत्व दिया जाना चाहिए। रूपक के द्वारा शैली का अलंकरण होता है। पद-रचना के विषय में ऐलकुइन ने केवल यही कहा है कि समान वर्णों का संगुफन अरुचिकर होता है। उपर्युक्त विवेचन में कोई नवीनता नहीं है—वह अरस्तू आदि के विचारों की ही प्रतिध्वनि मात्र है। मध्ययुग का मध्य और भी अनुर्वर है—उसमें रीतिशास्त्र ने किसी प्रकार प्रगति नहीं की। वास्तव में मध्य युग के इन दोनों भागों में रीतिशास्त्र के नाम पर व्याकरण, छन्दशास्त्र, अलंकार, चित्रकाव्य आदि का ही रूढ़िबद्ध वाख्यान-विवेचन होता रहा, काव्य अथवा रीति का मौलिक एवं तात्त्विक विवेचन नहीं हुआ।

दान्ते

मध्ययुग के अन्तिम चरण में दान्ते का आविर्भाव हुआ। दान्ते ने उत्कृष्ट काव्य-सर्जना के अतिरिक्त प्रौढ़ शास्त्र-विवेचन भी किया है। उन्होंने अत्यन्त प्रबल शब्दों में युग की आवश्यकता के अनुकूल लैटिन के विरुद्ध इटालियन भाषा की गौरव-प्रतिष्ठा की। दान्ते ने काव्यभाषा और काव्य-शैली पर बहुमूल्य विचार व्यक्त किये हैं। उन्होंने शैली अथवा रचना के चार भेद

किये हैं : १. निर्जीव अथवा रुचिविहीन २. केवल सुरुचिपूर्ण ३. सुरुचिपूर्ण तथा सुन्दर ४. सुरुचिपूर्ण, सुन्दर तथा उदात्त । इनमें अन्तिम शैली ही सर्वोत्तम है ।

शैली-भेदों के अतिरिक्त दान्ते का शब्द-विवेचन भी अत्यन्त मनोरंजक है : कुछ शब्द बच्चों की तरह तुतलाते हैं, कुछ शब्दों में स्त्रियोचित लोचलचक रहती है, और कुछ शब्दों में पौरुष मिलता है । अंतिम वर्ग के शब्दों में कुछ ग्राम्य होते हैं और कुछ नागर—नागर शब्दों में भी कुछ मसृण^१ और चिकण^२ होते हैं, और कुछ प्रकृत^३ और अनगद^४ ।

“इन शब्दों में से मसृण तथा प्रकृत को ही हम उदात्त शब्दावली कहते हैं, चिकण और अनगद शब्दों में आडम्बर मात्र रहता है । + + उदात्त शैली में ‘तुतले’ शब्दों के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि वे अति-परिचित शब्द होते हैं, स्त्रैण शब्द अपनी स्त्रैणता के कारण और ग्राम्य शब्द अपने काठिन्य के कारण त्याज्य हैं । नागर शब्दावली के चिकण और अनगद शब्द भी ग्राह्य नहीं हैं । इस प्रकार केवल मसृण और प्रकृत शब्द रह जाते हैं और ये ही शब्द भव्य हैं” ।

दान्ते के वर्गीकरण में कोई नवीनता नहीं है—उसमें भी उसी परम्परा की स्वीकृति है जो सिसरो, डायोनीसियस, डिमेट्रियस आदि में मिलती है । दान्ते की चार शैलियों में पहली अर्थात् निर्जीव या सुरुचिहीन शैली तो वास्तव में साहित्य की शैली ही नहीं है—वह तो शैली का विकृत रूप है जो डिमेट्रियस द्वारा निर्दिष्ट शुष्क (एरिड) नामक विकृत शैली से बहुत कुछ मिलती जुलती है । ‘केवल सुरुचिपूर्ण’ परम्परागत प्रसन्न शैली के और, ‘सुरुचिपूर्ण एवं सुन्दर’ सुन्दर (मधुर) शैली के समकक्ष है । ‘सुरुचिपूर्ण सुन्दर तथा उदात्त’ यूनानी-रोमी परम्परा के किसी रूप के अन्तर्गत नहीं आती—उदात्त में सुन्दर के लिए अधिक अवकाश नहीं है । यह वास्तव में हमारी वैदर्भी की ही पर्याय है जो प्रसाद, माधुर्य तथा ओज तीनों से सम्पन्न होती है । भारतीय रीतिशस्त्र में वैदर्भी की सभी प्रशस्तियों में उसकी सकल-गुण-सम्पदा का उल्लेख है । दान्ते भी अपनी चतुर्थ शैली को ही सर्वोत्कृष्ट मानते हैं क्योंकि वही सर्वगुण सम्पन्न है ।

१ कूम्बड २ स्लिपरी ३ शैली ४ रम्पिड ।

इस दृष्टि से दान्ते का शब्द-विवेचन अपेक्षाकृत अधिक मौलिक है। भारतीय रीतिशास्त्र में उनके स्त्रैण शब्दों का विवेचन वामन के शब्दगुण माधुर्य तथा सौकुमार्य में और मसृण शब्दों का विवेचन शब्दगुण कान्ति में मिल जाता है। अनगढ़ शब्द हमारे यहां भी श्रुतिकट्ट दोष के कारण माने गये हैं।

मध्य युग के उपरान्त यूरोप में उस स्वर्णयुग का आरम्भ हुआ जो इतिहास में पुनर्जागरण काल के नाम से प्रसिद्ध है। यह युग अगाध श्रद्धा और अदम्य विद्रोह का युग था—इन्हीं दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का अद्भुत समन्वय इस युग की अन्तःप्रेरणा का मूल आधार था। वास्तव में व्यक्ति की भाँति, युग की भी महत्ता उसकी अन्तर्विरोधों की समंजन-शक्ति में ही निहित रहती है। अन्तर्विरोध जितने प्रबल और तीव्र होते हैं, उनके समंजन के लिए उतनी ही शक्ति की आवश्यकता होती है। पुनर्जागरण काल में एक ओर पुरातन साहित्य के प्रति असौम्य श्रद्धा थी, दूसरी ओर नवीन जीवन-चेतना को अभिव्यक्त करने की दुर्दम्य स्फूर्ति। यूरोप में इस आन्दोलन का सबसे प्रबल रूप इंग्लैंड में व्यक्त हुआ। वहाँ उपर्युक्त दोनों प्रवृत्तियाँ अत्यन्त स्पष्ट रूप में सामने आईं—बैन जॉन्सन पहली प्रवृत्ति के प्रतीक हैं, शेक्सपियर दूसरी के। बैन जॉन्सन ने यूनानी और रोम की शास्त्रीय परम्पराओं को अवतरित किया—और शेक्सपियर ने आत्मा के उन्मुक्त विच्छेप^१ को।

बैन जॉन्सन

बैन जॉन्सन ने शैली पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार शैली का मुख्य गुण है प्रसाद—शैली का प्रमुख दोष यह है कि उसके लिए व्याख्याता की आवश्यकता पड़े। प्राचीन शब्दों के प्रयोग से शैली में एक प्रकार की गरिमा का समावेश होता है, और प्रायः उनका अपना एक विशेष चमत्कार होता है। “किन्तु फिर भी नवीन शब्दों में से प्राचीनतम और प्राचीन शब्दों में से नवीनतम शब्दों का चयन ही अधिक श्रेयस्कर है। + + + कुछ शब्दों का चयन अलंकार के लिए किया जाता है—जैसे कि

भवनों को सजाने के लिए या मात्साणं गूंधने के लिए फूलों का चयन किया जाता है। किन्तु ये भी शैली के सहज अंग रूप में ही अधिक खिलते हैं—जैसे कि फूल शब्दबल में ही अधिक सुन्दर लगते हैं।^१”

बैन जॉन्सन ने शैली के चार भेद माने हैं : ^१संक्षिप्त शैली, ^२समस्त शैली, ^३व्यस्त शैली, ^४समंजित शैली। ये भेद प्राचीनों के शैली-भेदों से भिन्न हैं। परन्तु आगे चलकर बैन जॉन्सन ने परम्परागत भेदों की ओर भी संकेत किया है। उन्होंने मानव-शरीर का रूपक बाँधते हुए भाषा-शैली के अनेक अंग माने हैं। आकार, स्वरूप, परिधान (त्वचा), रक्त-मांस आदि। आकार की दृष्टि से शैली के तीन भेद होते हैं : उदात्त, क्षुद्र और मध्यम। उदात्त शैली में शब्द चुने हुए होते हैं, उनका नाद-गुण गंभीर होता है, पद-रचना प्रचुर और प्रबल होती है। क्षुद्र शैली में शब्द निःसत्व और जड़ होते हैं—वाक्य-रचना में समंजन और शक्ति का अभाव रहता है। मध्यम शैली में भाषा प्रसन्न होती है—उसमें ऋजुता, संगठन, शोभा और आनु-गुणत्व रहता है। ये तीनों शैलियाँ विषय के आश्रित रहती हैं—विषयवस्तु में विपर्यय हो जाने से इनका स्वरूप भी विकृत हो जाता है। स्वरूप के अंतर्गत वाक्य-संघटना आती है। वाक्य संघटना भी कई प्रकार की हो सकती है : ऋजु-सरल, दृढ़-स्फीत आदि। उधर परिधान (त्वचा तथा वस्त्र) के अंतर्गत बैन जॉन्सन ने रचना को ग्रहण किया है। इसी प्रकार कुछ अन्य शैलियाँ भी हैं—जैसे मांसल तथा पुष्ट। मांसल में वागाडम्बर रहता है—पुष्ट शैली रस और रक्त से परिपुष्ट कही गयी है।

वास्तव में बैन जॉन्सन का विवेचन अधिक वैज्ञानिक नहीं है—उनकी व्यस्त शैली शैली न होकर शैली-दोष मात्र है। संक्षिप्त और समस्त शैलियों में कोई मौखिक प्रकार-भेद नहीं है। उदात्त शैली का उल्लेख यूरोप के प्राचीन आचार्य पहले ही कर चुके हैं। क्षुद्र शैली भी काव्य की शैली नहीं है—उसकी विशेषताएं काव्य-दोषों के अंतर्गत आती हैं। मध्यम शैली प्राचीनों की प्रसन्न शैली का ही दूसरा नाम है। मांसल शैली भारतीय गौड़ी का विकृत रूप है, और पुष्ट शैली का रस हमारे माधुर्य गुण का तथा रक्त ओज गुण का पर्याय है।—बैन जॉन्सन के विवेचन में कोई व्यवस्था नहीं है।

१ ग्रीफ, २ कन्साइज ३ एमप्ट ४ कान्ग्रु प्ण्ट एंड हारमोनियस।

पुनर्जागरण काल में रीति-शास्त्र ने कोई प्रगति नहीं की । वह सर्जना का युग था समोच्चा का नहीं । रीतिशास्त्र का सम्बन्ध शास्त्रीय परम्परा से ही है, आत्मा के विक्षेप के साथ उसकी संगति नहीं बैठती । पुनर्जागरण काल का वह विक्षेप वास्तव में रीतिशास्त्र के लिए घातक ही था ।

सत्रहवीं-अठारहवीं शती—नव्यशास्त्रवाद

सर्जन-क्रिया की इस दौड़-धूप के बाद सत्रहवीं शताब्दी में विचार और विवेचन के लिए विश्राम मिला । इन शताब्दियों में विवेक और वितर्क का प्राधान्य रहा । फ्रांस में सत्रहवीं शताब्दी इस दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण थी । बोइलो ने पुरातन की वाणी को आस वाणी घोषित किया । उन्होंने विवेक और सुरुचि को काव्य की आत्मा माना और यूनान तथा रोम के कवियों तथा आचार्यों को आदर्श रूप में प्रस्तुत किया । बोइलो के अनुसार काव्य-कला का आधार प्रचीनों की श्रेष्ठ कृतियों में ढूँढ़ना चाहिये । और हमको अपना ध्यान उन्हीं पर केन्द्रित करना चाहिए । काव्य-कला के सफल व्यवहार तथा सिद्धान्त-प्रतिपादन का श्रेय उन्हीं को है और सभी ने उनका स्तवन किया है । उनका अनुकरण ही विवेक और सुरुचि की स्वीकृति है—उनका अनुकरण करके ही सभी प्रकार के आडम्बर से मुक्ति सम्भव है । बोइलो कहते हैं कि इन नकली हीरों (काव्याडम्बर) की भूठी चमक-दमक इटली को ही मुबारक रहे । सत्काव्य के प्रत्येक अंग का नियामक विवेक ही होना चाहिए । आगे चलकर वे स्पष्ट करते हैं कि विवेक ही प्रकृति है । इस प्रकार फ्रांस में जिस नव्यशास्त्रवाद का जन्म हुआ उसका मूल सूत्र था :

प्रकृति=विवेक (सुरुचि)=प्राचीन (शास्त्रीय) साहित्य ।

प्रकृति विवेक का पर्याय किस प्रकार है यह समझने में आज कठिनाई हो सकती है । परन्तु नव्य-शास्त्रवादी इस विषय में स्पष्ट थे : प्रकृति से अभिप्राय उनका स्वच्छन्द अनगढ़ प्रकृति से नहीं था—वरन् व्यवस्थित (रीतिबद्ध) प्रकृति^१ से था । 'नियतिकृतनियमरहिता' प्रकृति को वे मान्यता नहीं देते थे । नव्यशास्त्र-

१ नेचर मेथोडाइज्ड

बाद के प्रभाववश रीतिशास्त्र की परम्परा में फिर बल आ गया—परन्तु इस युग का विवेचन यूनानी-रोमी रीति-सिद्धांतों की पुनरावृत्ति होने के कारण सर्वथा अमौलिक ही था। इस दृष्टि से इंग्लैंड में ड्राइडन का योग-दान कहीं अधिक स्तुत्य था। शास्त्र के प्रति ड्राइडन की श्रद्धा भी अखण्ड थी, परन्तु फिर भी उन्होंने जीवन को शास्त्र से अधिक प्रबल माना और निर्भीक घोषणा की : “अरस्तू ने ऐसा कहा है वह काफी नहीं है क्यों कि अरस्तू के दुखान्तकी- सिद्धान्त सोफ़क्लीज़ और यूरिपाइडोज़ के नाटकों पर आधृत थे—और यदि वे हमारे नाटक देखते तो अपना मन्तव्य बदल देते।” उस युग में यह बड़े साहस का काम था। शैली के विषय में ड्राइडन ने यत्रतत्र कुछ स्फुट विचार मात्र प्रकट किये हैं। उन्होंने शैली में वक्तृ-और वस्तु-श्रौचित्य को प्रमाण माना है :—

“मैं दुःखान्तकी में उदात्त शैली को बुरा नहीं मानता क्यों कि दुःखान्त (का वातावरण) तो स्वभाव से वैभवपूर्ण एवं गरिमावरिष्ठ होता है। किन्तु उदात्त की स्थिति श्रौचित्य के अभाव में सम्भव नहीं है। + + + जब मनुष्य किसी ऐसे गुण का अनुकरण करते हैं जो उनकी क्षमता से परे हो तो प्रायः उस गुण से मिलता-जुलता कोई दोष उनके पल्ले पड़ जाता है। इस प्रकार उदात्त काव्य-रचना का महत्वाकांक्षी अवित्रेकी कवि आडम्बरपूर्ण वाचाल शैली को ग्रहण कर बैठता है क्यों कि आडम्बर और वाचालता में गरिमा की भ्रांति हो जाती है। + + +

काव्य का स्तर जहां उदात्त हो वहां काव्य के उपकरणों की शक्ति परिस्थिति, विषयवस्तु और व्यक्तियों के अनुरूप ही होनी चाहिए।” ड्राइडन के विचार में—सूत्र विचार के लिए महान शब्दावली, पुनरावृत्ति, शिथिल पदावली, घोर अत्युक्ति, अनावश्यक वाग्विस्तार आदि अक्षय काव्य-दोष हैं।

ड्राइडन के कुछ ही बाद एडिसन, पोप और डा० जॉन्सन का समय आता है। इनमें एडिसन और जॉन्सन तो व्यवसाय से आलोचक थे—उन्होंने नियमित रूप से व्यवहारिक एवं सैद्धान्तिक समीक्षा की है। मिल्टन के महाकाव्य की आलोचना करते हुए एडिसन ने भाषा के प्रसंग में उदात्त शैली का विवेचन किया है। महाकाव्य की उदात्त शैली में प्रसाद और गरिमा

दोनों गुण अनिवार्यतः होने चाहिए । प्रसाद के विषय में एक बात स्मरण रखनी चाहिए : अनेक शब्द सर्वसाधारण के प्रयोग के कारण क्षुद्र बन जाते हैं:—‘अतिपरिचयात् अवज्ञा ।’ अतएव प्रसाद को अतिप्रचलित शब्दों तथा मुहावरों की क्षुद्रता से मुक्त रखना चाहिए । किन्तु उदात्त शैली के लिए प्रसाद पर्याप्त नहीं है—गरिमा भी उतनी ही अनिवार्य है । गरिमा का समावेश करने के लिए अरस्तू ने अनेक-उपकरणों का निर्देश किया है—एडिसन उन्हीं को उद्धृत कर देते हैं । वास्तव में एडिसन अरस्तू की भाषा ही बोलते हैं—इस प्रसंग में उन्हें अपना कुछ नहीं कहना है ।

पोप

पोप में नव्यशास्त्रवाद का प्रतिनिधि रूप मिलता है । उन्होंने भी बोझिलो के स्वर में स्वर मिलाते हुए प्रकृति की गौरव-प्रतिष्ठा की—उनकी प्रकृति भी वही रीतिबद्ध प्रकृति है जो शास्त्र का पर्याय है । नव्यशास्त्रवादियों के सिद्धान्त और व्यवहार में एक विचित्र विरोध दृष्टिगत होता है : उनके सिद्धान्तों में जहां काव्य के मौखिक तत्वों की प्रतिष्ठा है, वहां व्यवहार में काव्य की अनेक कृत्रिमताओं का नियमित रूप से समावेश रहता है । उदाहरण के लिए उन्होंने काव्य में शब्द की अपेक्षा अर्थ को ही महत्त्व दिया है, परन्तु उनके अपने काव्य का प्रधान गुण है भाषा की मसृणता तथा प्रसन्नता । उन्होंने भाषा को निखारने के लिए भाव की प्रायः बलि दे दी है । वास्तव में यही युग यूरोप में रीतिवाद का युग है । पोप ने अपने आलोचना-विषयक छन्दोबद्ध निबन्ध में शैली के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किये हैं : शैली (अभिव्यंजना) विचार का परिधान है और वह जितना संगत होगा उतना ही सुन्दर लगेगा । किसी क्षुद्र कल्पना को यदि चमक-दमक वाली शब्दावली में अभिव्यक्त किया जाए तो वह ऐसी लगेगी मानों विदूषक को राजसी परिधान पहना दिये हों, क्यों कि जैसा विषय हो वैसी ही शैली होनी चाहिए जिस तरह कि ग्राम, नगर और राजदराबर की पोशाक अलग अलग होती है । +

+

+

+

देखिए—पोप का ‘एसे ऑन क्रिटिसिज़्म’ ।

अशुद्ध शैली और शुद्ध शैली :— मिथ्या वाग्मिता ही अशुद्ध शैली है। उसकी स्थिति एक ऐसे शीशे के समान है जो चारों ओर अपने भड़कीले रंगों को बिखेर देता है जिससे हम पदार्थों के सहज स्वरूप को नहीं देख पाते। सभी में एक जैसी चमक-दमक उत्पन्न हो जाती है— किसी में कोई भेद नहीं रहता। परन्तु शुद्ध शैली का यह गुण है कि वह सूर्य के प्रकाश के समान प्रत्येक पदार्थ को व्यक्त कर देती है। उसके रूप को भी चमका देती है। वह सभी को स्वर्णिम आभा से दीप्त कर देती है किन्तु किसी के स्वरूप को नहीं बदलती।

आगे चलकर पोप वर्ण-योजना की चर्चा करते हैं। केवल श्रुतिपेशल वर्ण-गुम्फ अपने आप में स्तुत्य नहीं है—केवल संगीत के लिए काव्य का अनुशीलन करना असंगत है। परिवर्तनहीन रणन-ध्वनियों की भंकार एक प्रकार की अरुचिकर एकस्वरता को जन्म देती है। किसी गतिहीन पंक्ति में रेंगते हुए निर्जीव शब्द काव्य का उत्कर्ष नहीं कर सकते। शब्द में अर्थ की गूँज रहनी चाहिए। काव्य के पारखी प्रसन्न ऊर्जस्विता का ही आदर करते हैं—जहाँ ओज और माधुर्य का समन्य रहता है^१।

पोप के इन विचारों में भारतीय रीति-सिद्धान्त के अनेक तत्त्व वर्तमान हैं। पोप ने एक और वस्तु-औचित्य की अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में प्रतिष्ठा की है, दूसरी ओर प्रसाद, ओज और माधुर्य तीनों गुणों के समन्वय पर बल दिया है। उनकी आदर्श शैली वैदर्भी की भाँति ही प्रसादमयी, ओजस्वी और माधुर्य-संवर्धित है। 'केवल श्रुतिपेशल' के विरुद्ध उनका अभिमत आमह की निम्न-लिखित उक्ति का स्मरण दिलाता है :

अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम् ।

भिन्नगेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम् ॥^२

आमह—१।३।४।

१ देखिए—'एसे ऑन क्रिटिसिज़्म'

२ तुलना कीजिए :

हू हान्ट पारनेसस बट दू प्लोज़ दिअर ईअर
नाट मेन्ड दिअर माइन्ड्स, —पोप

वैदर्भी में यदि पुष्ट अर्थ तथा वक्रोक्ति का अभाव, और केवल ऋजु-प्रसन्न कोमल शब्दावली मात्र हो तो वह गीत की भाँति केवल श्रुतिपेशल हो सकती है—अर्थात् वह हमारे कानों को प्रिय लग सकती है परन्तु उससे हमारी चेतना का परिष्कार नहीं हो सकता है—जो काव्य का चरम उद्देश्य है ।

व्यवहार में इस युग के काव्य-सिद्धान्त रीति-सिद्धान्त के और भी अधिक निकट हैं । सिद्धान्त की दृष्टि से तो इस युग में अर्थ-गौरव तथा भाव-सौन्दर्य पर ही बल दिया गया परन्तु वास्तविक व्यवहार में इन कवियों का ध्यान मूलतः भाषा-शैली पर ही केन्द्रित रहा । भाषा-शैली को सँवार और सजाकर इन्होंने काव्य-भाषा को एक पृथक् रूप ही दे दिया—सिद्धान्त में अर्थ को गौरव देते हुए व्यवहार में इन्होंने शैली या रीति को ही काव्य की आत्मा माना । रीतिवाद और नव्यशास्त्रवाद में निम्नलिखित समानताएं अत्यन्त स्पष्ट हैं :

१. काव्य में भाव (रस) की अपेक्षा रीति का महत्त्व ।
२. काव्य के प्रति वस्तु-परक दृष्टिकोण ।
३. काव्य के बाह्य रूप के उत्कर्षकारी तथा उत्कर्षवर्धक तत्वों (गुण तथा अलंकार) का यत्नपूर्वक ग्रहण और अपकर्षकारी तत्वों (दोष) का त्याग ।

स्वच्छन्दतावाद

अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक पहुँचते पहुँचते अनेक आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक कारणों से काव्य-दर्शन में भी मौलिक परिवर्तन आरम्भ हो गया । कान्ट, फ्रिक्टे, शैलिंग आदि जर्मन दार्शनिकों ने दृष्टि को वस्तु से हटाकर आत्माभिमुख कर दिया । कान्ट ने स्पष्ट लिखा—“अब तक यह विश्वास रहा है कि हमारा समस्त ज्ञान वस्तु के अनुकूल होना चाहिए परन्तु अब इस बात पर विचार करने का समय आ गया है कि क्या मानव उन्नति के लिए (इसके विपरीत) यह धारणा अधिक श्रेयस्कर नहीं है कि वस्तु को हमारे ज्ञान के अनुकूल होना चाहिए ।” इन दार्शनिकों के प्रभाव से काव्य में विवेक और रीति के स्थान पर अन्तर्प्रेरणा, अन्तर्दृष्टि, अन्तर्प्रकाश, कल्पना,

आनन्दातिरेक आदि का प्राबल्य घोषित हुआ। बाह्य रूप-आकार का वस्तुगत सौन्दर्य केवल छाया-सौन्दर्य रह गया। इस प्रकार इस युग में रीति-सिद्धान्त पर सबसे घातक प्रहार हुआ। आत्मा के इस अग्निद्रव में कविता के बाह्य अलंकरण-शृङ्गार अनायास ही भस्म हो गये। परन्तु इस युग की कविता अनलंकृत है—यह बात नहीं है। जर्मनी में गेटे, और इंग्लैंड में कॉलरिज, कीट्स आदि को काव्य-शैली अनुपम है, परन्तु वह साधन मात्र ही है सिद्धि नहीं है। शैली की निम्नलिखित पंक्तियों में काव्य-रचना के प्रति रोमानी दृष्टिकोण का सार अन्तर्निहित है—“+ + किन्तु जब रचना आरम्भ होती है तो अन्तर्प्रेरणा का हास उससे पूर्व ही आरम्भ हो जाता है, विश्व में उपलब्ध सर्वश्रेष्ठ कविता कवि की मूल कल्पना की हलकी छाया मात्र है।” —रीति-सिद्धान्त का इससे स्पष्ट निषेध और क्या हो सकता है ? वास्तव में रोमानी काव्यशास्त्र में जहां ‘अकेला शब्द भी चिरदीप्त विचार का स्फुलिंग माना गया हो’—जहां ‘कविता के शब्दों में विद्युत्-शक्ति के वास की कल्पना की गई हो, विशिष्ट पद-रचना के वस्तुगत सौन्दर्य के लिए कोई स्थान नहीं है।

इस युग में रीति-सिद्धान्त की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण कॉलरिज और वर्ड्सवर्थ का काव्य-शैली-विषयक विवाद है। वर्ड्सवर्थ ने अठारहवीं शताब्दी की काव्य-भाषा का उग्र विरोध किया—उन्होंने उस चमक-दमक-वाली कृत्रिम तथा निष्प्राण भाषा को काव्य के अनुपयुक्त माना। काव्य की भाषा के विषय में उनके मूल सिद्धान्त दो हैं : (१) सहज मानव-भाषा ही काव्य की भाषा होनी चाहिए। मानव-भाषा का सहज रूप ग्राम्यजन की भाषा में मिलता है क्योंकि इन व्यक्तियों का ऐसी वस्तुओं से निरन्तर सम्पर्क रहता है जो भाषा के सर्वोत्कृष्ट अंगों के मूल उद्गम हैं। अतएव भाषा का सच्चा रूप यही है—कवि इसी को अपनी कल्पना के रंगों से रँग कर काव्य-भाषा का रूप दे देता है।

(२) यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि गद्य और पद्य की भाषा में कोई अन्तर न है और न हो सकता है।

रीतिशास्त्र के क्षेत्र में वर्ड्सवर्थ की यह घोषणा वास्तव में घोर विप्लव की घोषणा थी। इसका विरोध स्वाभाविक था—सबसे प्रथम तो वर्ड्सवर्थ के अभिन्न मित्र कॉलरिज ने ही इसके विरुद्ध शस्त्र-ग्रहण किया।

उन्होंने उपर्युक्त दोनों स्थापनाओं का प्रबल विरोध किया। पहले तो उन्होंने उपर्युक्त “सहज या वास्तविक मानव-भाषा” के ‘सहज’ या ‘वास्तविक’ शब्द पर आपत्ति की। “प्रत्येक मनुष्य की भाषा का स्वरूप उसके ज्ञान की परिधि, उसकी शक्तियों की क्रियाशीलता और उसकी अनुभूति की गहनता अथवा संवेदन-शक्ति के अनुसार भिन्न होता है। प्रत्येक मनुष्य की भाषा में एक तो उसके अपने व्यक्तिगत विशिष्ट गुण होते हैं, दूसरे उसके वर्ग के सामान्य गुण होते हैं और तीसरे सार्वभौम प्रयोग के शब्द और वाक्यांश होते हैं। + + + अतएव ‘सहज’ या ‘वास्तविक’ भाषा के स्थान पर ‘साधारण’ भाषा का प्रयोग करना उपयुक्त होगा।”—इसके उपरान्त कॉलरिज ने वर्ड्सवर्थ की दूसरी मान्यता पर प्रहार किया : “पहले तो स्वयं गद्य की भाषा ही—कम से कम सभी तर्क-प्रधान तथा निबद्ध रचनाओं की भाषा बोलचाल की भाषा से भिन्न होती है और होनी चाहिए, जिस प्रकार पढ़ने में और बातचीत करने में भेद रहता है।—कॉलरिज का तर्क है कि पद्य की भाषा आवेग की भाषा है। पद्य में एक प्रकार की मधुर जिज्ञासा उत्पन्न करने और उसे तृप्त करने की शक्ति रहती है। फलतः उसमें चित्रमय भाषा का प्रयोग स्वभावतः अधिक रहता है। गद्य के लिए यह सब अनावश्यक है—प्रायः बाधक भी हो सकता है। अतएव वर्ड्सवर्थ की यह युक्ति अधिक सार्थक नहीं है कि पद्य की अनेक सुन्दर पंक्तियों की शब्द-योजना गद्य-भाषा की शब्द-योजना से सर्वथा अभिन्न है : प्रश्न शब्दों की योजना का नहीं है—प्रश्न यह है कि क्या कतिपय वाक्यांश, रचना-भंगिमाएं अथवा अभिव्यंजनाएं जो प्रौढ़ गद्य के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं पद्य के लिए अनुपयुक्त तथा विजातीय नहीं होतीं ? इसलिए पद्य और गद्य की भाषा में मूल भेद होता है और होना चाहिए।

वर्ड्सवर्थ की प्रथम स्थापना तो भारतीय रीति-सिद्धान्त के मूल पर ही कुठाराघात करती है। भारतीय शास्त्र में वैदर्भी को निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठ रीति माना गया है और उसकी श्रेष्ठता का आधार है उसमें नागर गुणों का प्राचुर्य—इसीलिए परवर्ती आचार्यों ने उसका नाम ही उपनागरिका रख लिया था। वैदर्भी की संस्कृत में अनेक प्रशस्तियां हैं जिनमें उसके नागर गुणों का यशोगान है। भामह ने और और भामह से भी पूर्व बाण भट्ट ने रीति की आग्राम्यता पर अत्यधिक बल दिया है :

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या + + ।

(बाण)

अलंकारवदग्राम्यम् अर्थं न्याय्यमनाकुलम् ।

(भामह)

परन्तु वर्ड्सवर्थ इसके विरुद्ध ग्राम्य जन की भाषा को ही सच्ची मानव-वाणी और तदनुसार वास्तविक काव्य-भाषा घोषित करते हैं। वर्ड्सवर्थ का सिद्धान्त स्पष्टतः ही सदोष है। इसमें दो दोष हैं एक तो यह कि ग्राम्य जन की भाषा को आदर्श काव्यभाषा मानना असंगत है। जैसा कि कॉलरिज ने लिखा है, ग्राम्य जन की धारणाएं अत्यन्त परिसीमित होती हैं,—अतएव उनकी भाषा स्वभावतः सीमित तथा अविकसित होती है। दूसरे, उसमें प्रकृत गुण अवश्य होते हैं, परन्तु संस्कार नहीं होता, और काव्य की भाषा का संस्कार-विहीन होना दुर्गुण ही है। दूसरा दोष इसी का परिणाम है—और वह यह कि वर्ड्सवर्थ ने नागरता को कृत्रिमता का पर्याय मान लिया है। नागर भाव संस्कार और परिष्कार का द्योतक है—कृत्रिमता का नहीं। व्यक्तित्व की समृद्धि को भाँति भाषा की समृद्धि के भी आधारभूत तत्व दो हैं : हार्दिक विभूतियाँ और बौद्धिक विभूतियाँ। ग्राम्य जीवन में पहला तत्व प्रचुर मात्रा में परन्तु अपने अनगढ़ रूप में मिलता है किन्तु दूसरा तत्व अत्यन्त विरल होता है। अतएव ग्राम्यता यदि दोष नहीं है तो गुण भी नहीं है—कम से काव्य-भाषा का प्रमुख तत्व नहीं है। इसी प्रकार नागर गुणों की उपादेयता का भी अवमूल्यन नहीं किया जा सकता।

वर्ड्सवर्थ की दूसरी स्थापना में संस्कृत के अध्येता के लिए कोई विशेष वैचित्र्य नहीं है क्यों कि संस्कृत में गद्य और पद्य का वैसा प्रखर पार्थक्य नहीं है जैसा यूरोप की भाषाओं में रहा है। यहां गद्य और पद्य दोनों काव्य के अंग माने गये हैं, उनकी आत्मा में कोई मूल भेद नहीं माना गया। वास्तव में गद्य का सच्चा स्वरूप संस्कृत गद्य-काव्य में मिलता भी नहीं है। फिर भी रीति-विवेचन में दोनों के पार्थक्य का थोड़ा-सा निर्देशन अवश्य है—उदाहरण के लिए गद्य के लिए प्रायः गौड़ी रीति ही अधिक उपादेय मानी गयी है और वैदर्भी तथा पांचाली का स्वाभाविक क्षेत्र पद्य ही है। इस प्रकार वर्ड्सवर्थ-कॉलरिज के इस विवाद में संस्कृत का रीति-शास्त्री कॉलरिज के पक्ष में ही मत देता।

रोमान्टिक युग के बाद ज्ञान के अन्य क्षेत्रों की भाँति आलोचना पर भी विज्ञान का समाघात हुआ। टेन ने आलोचना के लिए इतिहास को और सेंट ब्रिगुए ने व्यक्ति को प्रमाण माना। इस प्रकार यहाँ से आलोचना विज्ञान का रूप धारण करने लगी और क्रमशः समाजविज्ञान, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र आदि के सिद्धान्तों से ओत-प्रोत होने लगी। रूप-सम्बन्धी^१ आलोचना समय से पिछड़ गयी।

मैथ्यू आर्नल्ड ने एक बार फिर गंभीर काव्य-गत मूल्यों को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया : उन्होंने प्राचीन काव्य को काव्य का आदर्श मानते हुए विषय की गुरुता को काव्य-सर्वस्व घोषित किया। उन्होंने काव्य के लिए तीन तथ्यों पर बल दिया—‘विषय-निर्वाचन का सर्वाधिक महत्व, यथातथ्य वस्तु-विधान की आवश्यकता और अभिव्यंजना अथवा शैली की विषयाधीनता’^२। आर्नल्ड प्राचीनों की उदात्त शैली के प्रशंसक थे—परन्तु उस शैली की महत्ता का रहस्य भी वे यही मानते थे कि उसको कभी आवश्यकता से अधिक महत्व नहीं दिया गया—वह अत्यन्त सरल तथा सर्वथा विषयाधीन है, और वह अपनी शक्ति सीधे विषय के अर्थ गौरव से ही प्राप्त करती है^३। इस प्रकार मैथ्यू आर्नल्ड ने एक दूसरे मार्ग से रीतिवाद पर प्रहार किया—रीतिवाद के प्रति उनका दृष्टिकोण प्रायः वही है जो हमारे काव्य-शास्त्र में रस-ध्वनिवादियों का है।

बीसवीं शताब्दी में यूरोप के आलोचना-शास्त्र की को प्रवृत्तियों ने जोर पकड़ा : एक ओर तो आर्नल्ड आदि द्वारा प्रतिपादित विषय की गंभीरता के विरोध में एक बार फिर कला में शैली अथवा अभिव्यंजना की महत्व-प्रतिष्ठा के लिए आंदोलन चला। दूसरी ओर मनोविज्ञान और मनो-विश्लेषण-शास्त्र को आधार मानकर काव्य के तत्त्वों की व्यवस्था की गयी। इस शती की इन दो प्रमुख प्रवृत्तियों को हम सौन्दर्य-शास्त्रीय आलोचना और मनोवैज्ञानिक आलोचना कह सकते हैं।

सौन्दर्य-शास्त्रीय आलोचना का मूल सिद्धान्त है अभिव्यंजनावाद। अभिव्यंजना का महत्व तो अपने आप में कोई नवीन उद्भावना नहीं है—

१ क्रॉमेल २ प्रिफ़ेस टू पोइम्स

३ प्रिफ़ेस टू पोइम्स

यूनानी-रोमी आलोचकों के ग्रन्थों में इस विषय में अनेक संकेत मिलते हैं। परवर्ती काव्य-शास्त्र में आर्नल्ड से पहले ही विक्टर ह्यूगो इस तथ्य की घोषणा कर चुके थे : 'काव्य में अच्छे बुरे विषय नहीं होते—अच्छे बुरे कवि ही होते हैं। + + + + यह देखिए कि रचना किस प्रकार की गयी है—यह नहीं कि किस विषय पर या क्यों ? इस सूत्र को बाद में स्विनबर्न, पेटर, आस्कर वाइल्ड, आदि ने पकड़ लिया और क्रोचे ने इसे दार्शनिक आधार देकर शास्त्र का रूप दे दिया।

पेटर की स्थिति अपेक्षाकृत मध्यवर्ती है। वे केवल अभिव्यंजना को महत्व नहीं देते—वास्तव में वे विषय-वस्तु को ही अधिक महत्व देते हैं। अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'शैली' के अंश में उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि महान् कला रूप पर निर्भर नहीं है तत्व पर निर्भर है। परन्तु उनके निबन्ध का मूल प्रतिपाद्य यह नहीं है, उसका मूल प्रतिपाद्य है शैली और विषयवस्तु का अनिवार्य सहभाव—साहित्य, जिसे उन्होंने 'अपने अर्थ के प्रति निष्ठा' 'शब्द का अर्थ के साथ पूर्ण सामंजस्य' आदि वाक्यांशों द्वारा अभिव्यक्त किया है। प्रलॉबर्ट की भाँति वे भी शैलियों में विश्वास नहीं करते—उनका तो केवल एक शैली में विश्वास है। "अनेक शब्दों के समूह में से एक तथ्य, एक विचार के लिए केवल एक शब्द जो यथेष्ट हो : शैली की समस्या वहाँ यह थी (प्रलाबर्ट के सामने) कि केवल एक ही अद्वितीय शब्द, वाक्यांश, वाक्य, अनुच्छेद, निबन्ध, या गीत—कुछ भी हो उसका मन की छवि या मन के चित्र के साथ पूर्ण तादात्म्य हो।" इसीलिए अलंकार, शाब्दिक चमत्कार, तथा अन्य प्रसाधन जो अभिव्यंजना के अभिन्न अंग नहीं हैं—जिनका पृथक् अस्तित्व है, शैली का वास्तव में उपकार नहीं करते। वे उसकी मूलभूत एकता को नष्ट कर देते हैं। "शब्द का औचित्य वहीं सिद्ध होता है जहाँ वह अर्थ के साथ तदाकार हो जाता है।"

हमारे काव्य-शास्त्र में पेटर का सम्पूर्ण विवेचन अकेले 'साहित्य' शब्द में निहित है : 'साहित्य' में शब्द और अर्थ का अनिवार्य सहभाव रहता है। कुन्तक आदि ने इसको व्याख्या में प्रायः वही शब्दावली प्रयुक्त की है जो पेटर ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने में। "न च काव्ये शास्त्रादिव-दर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते, सहित्योः शब्दार्थयोः तत्र प्रयोगात् साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनानतिरिक्तत्वम्।" अर्थात् काव्य में शास्त्रादि की भाँति

केवल अर्थ प्रतीति के लिए शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता—साहित्य की रचना तो तब होती है जब शब्द और अर्थ एक दूसरे के तुल्यकच होकर, परस्पर स्पर्धा करते हुए (परस्परस्पर्धाधिरोहः), अन्यून और अनतिरिक्त रूप से पूर्ण सहभाव के साथ प्रयुक्त किये जाएं। उधर वामन ने अपने अर्थ-गुण प्रसाद में भी इसी विशेषता पर बल दिया है—अर्थ-गुण प्रसाद का अर्थ है अर्थ-वैमल्य जिसके लिए प्रयोजक मात्र का प्रयोग अनिवार्य है और प्रयोजक मात्र के प्रयोग का अभिप्राय भी अन्यून-अनतिरिक्त ही है।

पेटर ने शैली के दो मूल तत्व माने हैं : मस्तिष्क और आत्मा। “मस्तिष्क के द्वारा कलाकार रूप-विधान के उन स्थिर तथा वस्तुगत संकेतों द्वारा हमारे मन तक पहुँचता है जो सभी के लिए सुस्पष्ट रहते हैं। आत्मा द्वारा वह अस्थिर सहानुभूति के माध्यम से, एक प्रकार का सद्यःसम्पर्क स्थापित करता हुआ कुछ विचित्र मनमाने-से ढंग से हम तक पहुँचता है।” मस्तिष्क के द्वारा रूप-विधान की अन्विति, और आत्मा के द्वारा वातावरण की अन्विति घटित होती है—मस्तिष्क रूप देता है और आत्मा रंग। “मस्तिष्क के अंतर्गत विवेक-सम्मत संघटना और आत्मा के अंतर्गत रंग तथा रहस्यमयी गंध का अन्तर्भाव है।”—स्पष्ट शब्दों में मस्तिष्क का अर्थ है शैली का वस्तु-तत्त्व और आत्मा का अर्थ है व्यक्ति-तत्त्व। वस्तु-तत्त्व बाह्य रूप से सम्बद्ध—अतएव एवं मूर्त है, व्यक्ति-तत्त्व अमूर्त अतएव अनिर्वचनीय है।

भारतीय काव्य-शास्त्र की शब्दावली में शैली का मस्तिष्क अथवा बुद्धि-पक्ष रीति है, और आत्मा ध्वनि है। वामन-प्रतिपादित वस्तु-परक पद-रचना-रूपिणी रीति को ही पेटर ने रूप-विधान आदि शब्दों से अभिहित करते हुए ‘मस्तिष्क’ संज्ञा दी है। आत्मा वह सूक्ष्म आभासमान तत्त्व है जो रंग अथवा गंध के समान अनुभूत तो होता है, परन्तु शब्द-बद्ध नहीं किया जा सकता, जो ‘विभाति लावण्यमिवांगनासु’—यही ध्वनि है। वामन शैली के मस्तिष्क तक ही पहुँच पाये इसीलिए उनका विवेचन अपूर्ण रहा : आनन्दवर्धन ने उसकी आत्मा को खोज निकाला और उनका विवेचन पूर्ण हो गया। पेटर शैली के मस्तिष्क के साथ आत्मा का संयोग कर, अज्ञातरूप से, मानो

देखिए—एप्रिसियेशन्स—स्टाइल

रीतिवाद की त्रुटि का परिहार करते हुए आनन्दवर्धन के मत को पुष्ट कर रहे हैं ।

वाणी और अर्थ की अभिन्नता के आधार पर ही अंगरेज़ी में वाल्टर रैले ने शैली पर अपनी लोकप्रिय पुस्तिका लिखी । उन्होंने विषयवस्तु और रूप-विधान के पार्थक्य को दुष्कर माना : उनके अनुसार साहित्य का कार्य द्विविध है—अर्थ के लिए शब्द ढूँढ़ना और शब्द के लिए अर्थ ढूँढ़ना* । इन दोनों का सामंजस्य ही साहित्य है । उन्होंने शैली के दो प्रकार के तत्व माने हैं जिसमें कुछ आंतरिक हैं और कुछ बाह्य । आंतरिक तत्व हैं निश्छलता, संयमन, आत्म-निषेध आदि, और बाह्य तत्व हैं इनके व्यक्त परिणाम—प्रसाद तथा शक्ति आदि । बाह्य तत्वों में सबसे प्रमुख है शब्द जिसके तीन गुण हैं : नाद-गुण, चित्र-गुण तथा अर्थ-गुण । नादगुण के अंतर्गत वर्ण-संगीत आदि आते हैं, चित्र-गुण के अंतर्गत शब्द की मूर्तिविधायिनी शक्ति आती है, और अर्थ से अभिप्राय है अर्थगौरव का : चित्र में ऐन्द्रिय पक्ष है, अर्थ में बौद्धिक पक्ष । आगे चलकर रैले ने काव्य के अलंकारों^१ तथा प्रसाधनों^२ का विवेचन किया है । अलंकार को वे उक्ति से अभिन्न मानते हैं, प्रसाधन उक्ति से पृथक् किया जा सकता है । अलंकृत शैली अपने परम उदात्त रूप में अत्यन्त गंभीर और अत्यन्त शुद्ध-प्रसन्न भी हो सकती । किन्तु अलंकार का प्रसाधन के रूप में भी प्रयोग होता है, ऐसी स्थिति में वह विषय और शैली को अनेक प्रकार की विषयेतर कल्पना-सामग्री से समृद्ध करता हुआ अपनी उपादेयता सिद्ध करता है ।^३

रैले का शैली-विवेचन पेटर के निबन्ध से बहुत प्रभावित है—यहां तक कि शैली के बुद्धि-पक्ष और आत्म-पक्ष का प्रायः पेटर के शब्दों में ही विवेचन करते हुए अपने वे निबंध का उपसंहार करते हैं । रैले द्वारा निर्दिष्ट आंतरिक तत्व—निश्छलता तथा संयम शैली के वैयक्तिक तत्व हैं जिनका भारतीय रीतिशास्त्र में विवेचन नहीं है । रीति में व्यक्ति-तत्व की सत्ता स्वीकार करते हुए भी भारतीय रीतिशास्त्र ने उसका विश्लेषण नहीं किया, केवल वस्तु-तत्व का ही किया है । अतएव निश्छलता जैसे अत्यन्त वैयक्तिक तत्व का विवेचन हमारे यहां नहीं है—रसौचित्य के प्रसंग में भी

* देखिए : स्टाइल पृ० ६३ टू फ्राइन्ड वर्ड्स फॉर ए मीनिंग एन्ड टू फ्राइन्ड ए मीनिंग फॉर वाड्स । १ फ़िगर आफ स्टाइल २ डैकोरेशन ३ देखिए स्टाइल पृ० १००

नहीं है क्यों कि वहां भी औचित्य कवि-निबद्ध पात्रों के रस का ही है, कवि के वैयक्तिक रस का नहीं। हां संयम तत्त्व की ओर वामन के दो अर्थ-गुणों में—प्रसाद तथा ओज में संकेत मिलता है। अर्थ-गुण प्रसाद में प्रयोजक मात्र के प्रयोग का अर्थ संयम ही है। इसी प्रकार अर्थ-गुण ओज में अर्थप्रौढ़ि का 'समास' रूप भी संयम का ही द्योतक। बाह्य तत्वों में नादगुण का विवेचन हमारी वर्ण योजना के अंतर्गत मिलता है—मम्मट आदि ने माधुर्य और ओज के प्रसंग में शब्दों के नादगुण का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। चित्रगुण का संकेत वामन के सौकुमार्य, कांति आदि शब्द-गुणों मिल जाता है। सौकुमार्य का अर्थ है अपारुह्य और कांति का अर्थ है औज्ज्वल्य। अपारुह्य और औज्ज्वल्य दोनों ऐन्द्रिय संवेदना के विषय हैं—अपरुष शब्दावली सुकुमार तथा कोमल चित्र प्रस्तुत करती है और उज्ज्वल शब्दावली भास्वर—रंग और प्रकाश के—चित्र मन में जगाती है। इसी प्रकार रैले का अर्थ-गुण (मीनिंग) वामन के अर्थ-गुण समाधि से बहुत दूर नहीं पड़ता जिसका आधार है अर्थदृष्टि—अर्थात् अर्थ को स्पष्ट रूप से ग्रहण करने के लिए चित्त का अवधान। किन्तु यह शब्द के अर्थगुण का केवल एक रूप है—उसके अन्य रूप भी होते हैं। रैले द्वारा निर्दिष्ट अलंकार तथा प्रसाधन का भेद भारतीय काव्य-शास्त्र में वामनकृत गुणालंकार-भेद का स्मरण दिलाता है। वामन के अनुसार गुण और अलंकार दोनों सौंदर्य के अंग हैं—गुण नित्य अंग है, अलंकार अनित्य। गुण काव्य-उत्कर्ष के साधक हैं, अलंकार उत्कर्ष के वर्धक मात्र हैं—अर्थात् गुण काव्य के आंतरिक एवं अविच्छेद्य अंग हैं, अलंकार बाह्य तथा विच्छेद्य। यही बात रैले अलंकार तथा प्रसाधन के सम्बन्ध में कहते हैं। वास्तव में रैले का अलंकार हमारे काव्य-शास्त्र की 'वक्रता' के और भी अधिक निकट है—उक्ति-वक्रता को ही रैले ने अलंकार-संज्ञा दी है और अप्रस्तुत-विधान को प्रसाधन की।

इस विचारधारा का दार्शनिक रूप क्रोचे के अभिव्यजनाववाद में मिलता है। अभिव्यजनाववाद के सिद्धान्त के अनुसार कला अथवा काव्य अभिव्यजना मात्र है। रूप से भिन्न सौंदर्य का कोई अस्तित्व नहीं है। क्रोचे के इस सिद्धान्त-वाक्य को सुनकर रीतिरात्मा काव्यस्य की ओर ध्यान जा सकता है : परन्तु अभिव्यजनाववाद और रीतिवाद में साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक

है। दोनों उक्ति को महत्व देते हैं इसमें संदेह नहीं।—अभिव्यंजनावाद उक्ति के अतिरिक्त अर्थ का अस्तित्व ही नहीं मानता—दूसरे शब्दों में, वह उक्ति को ही सर्व-महत्व-सम्पन्न मानता है। उधर रीतिवाद रीति को ही काव्य का प्राणतत्त्व मानता है और रीति भी मूलतः उक्ति ही है। अतएव दोनों में उक्ति की महत्व-स्वीकृति है। परन्तु इस आधारभूत साम्य के अतिरिक्त वैषम्य भी दोनों पर्याप्त है। पहला भेद तो यह है कि रीति केवल उक्ति नहीं है वह विशिष्ट पदरचना है—विशिष्ट पदरचना भी उक्ति ही है यह ठीक है, परन्तु रीति में उसकी विशिष्टता और रचना पर ही बल अधिक है। इसके विपरीत अभिव्यंजनावाद के अनुसार तो अभिव्यंजना या उक्ति में विशेष और सामान्य का भेद ही नहीं है—उसका तो एक ही रूप है। वह सफल असफल का भेद ही नहीं मानता क्यों कि असफल अभिव्यंजना तो अभिव्यंजना ही नहीं है। उधर रीति का आधार रचना की विशिष्टता ही है और विशिष्टता का अर्थ यहां अद्वितीयता नहीं है असाधारणता मात्र है जो गुण तथा अलंकार के आदान और दोष के त्याग पर आश्रित है। अभिव्यंजनावाद गुण, अलंकार, दोष आदि को सर्वथा अप्रासंगिक तथा मिथ्या कल्पना मात्र मानता है। अभिव्यंजना अखण्ड है और गुण, अलंकार आदि में उसे खण्डित नहीं किया जा सकता। अपना सौंदर्य वह स्वयं अपने आप है—अलंकार आदि में उसे खण्डरूप में नहीं देखा जा सकता। इस प्रकार रीति के समस्त तत्व अभिव्यंजनावाद के अनुसार व्यर्थ हो जाते हैं। और, रीतिवाद तथा अभिव्यंजनावाद का यह वैषम्य उनके साम्य से कम मौलिक नहीं है। वास्तव में इस वैषम्य का आधार और भी गहरा है : इन दोनों के दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न हैं—रीतिवाद वस्तुपरक सिद्धान्त है अभिव्यंजनावाद शुद्ध आत्म-परक सिद्धान्त है। दोनों कुछ क्षण के लिए एक स्थान पर पहुँच कर उक्ति के महत्व की घोषणा अवश्य कर देते हैं परन्तु मार्ग दोनों के सर्वथा भिन्न हैं।

यूरोप में आधुनिक काव्य-शास्त्र की दूसरी मुख्य प्रवृत्ति का विकास मनोवैज्ञानिक आलोचना में हो रहा है। इस प्रवृत्ति में रीतिवाद का पूर्ण निषेध मिलता है। इस पद्धति के अनुसार कला अथवा काव्य का सर्वस्व है अर्थ जो मुख्यतः संवेदनात्मक तथा गौणतः धारणात्मक होता है, और, प्रत्येक संवेदना अथवा धारणा चेतन या अवचेतन मन की प्रक्रिया का परिणाम है। मन की यही प्रक्रिया इस पद्धति के लिए अन्तिम सत्य है शैली अथवा रीति की यहाँ कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। रीति के शब्द, अलंकार, वर्ण-गुम्फ आदि

सभी तत्व प्रतीक मात्र हैं—वे अपने में कुछ नहीं हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि मनोवैज्ञानिक आलोचना शैली अथवा उसके उपकरणों के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करती।—नहीं, यहां भी भाषा, अलंकार, शब्द-शक्ति, लय-आदि की विस्तार से चर्चा रहती है, परन्तु इनको स्वतन्त्र वस्तु रूप में ग्रहण न कर मानसिक प्रक्रिया के मूर्त प्रतीक रूप में ही माना जाता है। इंग्लैंड के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक आलोचक रिचर्ड्स के कतिपय उद्धरण इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं :

“वास्तव में शब्द या ध्वनि का प्रभाव जैसी कोई वस्तु नहीं होती। उसका अपना कोई एक प्रभाव नहीं होता। शब्दों के अपने कोई साहित्यिक गुण नहीं होते। कोई शब्द न कुरूप होते हैं और न सुन्दर—न अपने आप में अरुचिकर होते हैं और न रुचिकर। वरन् इसके विपरीत प्रत्येक शब्द के कतिपय सम्भाव्य प्रभाव होते हैं—और ये प्रभाव उन परिस्थितियों के अनुसार, जिनमें कोई शब्द ग्रहण किया जाता है, बदलते रहते हैं। + +

शब्द-ध्वनि अपना विशेष गुण उस मानसिक प्रक्रिया से प्राप्त करती है जो पहले से ही आरम्भ हो जाती है। यह पूर्ववर्ती मानसिक उद्वेलन कतिपय सम्भाव्य गुणों में से ऐसे विशेष गुण को चुन लेता है जो उसके सबसे अधिक अनुकूल पड़ता है। कोई स्वर अथवा वर्ण न विषयण होते हैं और प्रसन्न—और किन्हीं अवतरणों के प्रभाव का स्वर-व्यंजन-मैत्री द्वारा विश्लेषण करने वाले अनेक आलोचक केवल खिलवाड़ करते रहते हैं। किसी शब्द-ध्वनि के ग्रहण किये जाने की विधि पहले से ही उद्बुद्ध भाव के अनुसार बदलती रहती है^१।”

“चित्र, मूर्ति, वास्तु और काव्य-कला सभी में ऐसे व्यक्तियों से सावधान रहना चाहिए जो यह मानते हैं कि रूप-विधान अपने आप में कतिपय विशिष्ट एवं रहस्यमय गुणों से सम्पन्न होता है। प्रत्येक स्थिति में उसका प्रभाव उसके अन्तर्गतों से उद्बुद्ध प्रभावों को पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया पर ही (योग पर नहीं) आधारित रहता है^२।”

देखिए —आई० ए० रिचर्ड्स का ग्रंथ प्रिंसिपल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज्म

१ पृ० १३६-३७

२ पृ० १३८

इसी प्रकार लय को रिचर्ड्स वर्ण-मैत्री का परिणाम न मानकर 'आशा, परितोष, निराशा तथा कुतूहल की प्रतिक्रियाओं की संयोजना मात्र मानते हैं'।—वामन के रीतिवाद का यह आमूल निषेध है।

यूरोपीय काव्यशास्त्र में रीति-सिद्धान्त का यही संक्षिप्त इतिहास है।

यूरोप में, सार रूप में, शैली का तीन अर्थों में प्रयोग हुआ है : व्यक्ति-वैशिष्ट्य^२ के रूप में, अभिव्यंजना-रीति^३ के रूप में, निरपेक्ष^४ रूप में—अर्थात् कला के पूर्ण उत्कर्ष के रूप में। व्यक्ति-वैशिष्ट्य के रूप में वह लेखक के व्यक्तित्व की ऐकान्तिक अभिव्यक्ति है—उसके रूप-विधान पर लेखक को छाप इतनी स्पष्ट रहती है कि कोई भी विज्ञ पाठक उसके विषय में भ्रान्ति नहीं कर सकता। शैली जैसे शैलीकार के नाम को पुकार कर कह देती है। इस अर्थ में शैली सर्वथा शुभाशंसा का ही विषय नहीं होती—शैलीकार के व्यक्तित्व के अनुरूप ही वह स्तुति और निन्दा दोनों का ही विषय हो सकती है। भारतीय रीतिशास्त्र में इस रूप को दण्डी आदि ने स्पष्ट शब्दों में मान्यता तो दी है, परन्तु उसका विवेचन नहीं किया। वास्तव में शैली का यह रूप इतना अधिक वैयक्तिक है कि इसकी वस्तु-परक विवेचना सम्भव ही नहीं है^५। इसकी केवल मनोवैज्ञानिक व्याख्या हो सकती है जो उस युग में भारतीय शास्त्रकार के लिए सम्भव नहीं थी। अभिव्यंजना की रीति के रूप में प्रायः वह भारतीय रीति का ही पर्याय है। उसके अन्तर्गत रचना-कौशल के सभी तत्व आ जाते हैं। इस अर्थ में रीति की स्थिति वस्तुगत है—और उसका शिक्षण तथा अभ्यास संभव है। यूनानी-रोमी रीतिशास्त्र में इसी का विवेचन है। तीसरा रूप शैली का निरपेक्ष रूप है—इस अर्थ में शैली विशेष और साधारण—वैयक्तिक और सार्वजनिक तत्वों का पूर्णतया समंजित रूप है। शैली का यही आदर्शरूप है। इसमें व्यक्ति-परक तथा वस्तु-परक दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय है। वामन के गुण-विवेचन में ऐसे अनेक संकेत हैं, जो इस बात का निर्देश करते हैं कि 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की स्थापना करते

समय वामन के मन में अव्यक्त रूप से यही धारणा वर्तमान थी : उनकी प्रतिभा को इसका आभास तो था, किन्तु युग की परिसीमाओं में आबद्ध अपनी वस्तु-परक दृष्टि के कारण वे उसे सम्यक् रूप से व्यक्त नहीं कर पाये ।

हिन्दी में रीति-सिद्धान्त का विकास

हिन्दी में रीति-सिद्धान्त लोकप्रिय नहीं हुआ। वास्तव में रीतिवाद को हिन्दी साहित्य में कभी मान्यता नहीं मिली। यह एक विषमता ही है कि स्वयं रीतिकाल का ही दृष्टिकोण सिद्धान्त रूप में रीतिवादी नहीं रहा—व्यवहार की बात हम नहीं करते। हिन्दी में कोई भी ऐसा कवि अथवा आचार्य नहीं हुआ जिसने रीति को काव्य की आत्मा माना हो। फिर भी रीति और उसके विभिन्न तत्त्वों—गुण, रचना (—अर्थात् वर्ण-गुम्फ तथा शब्द-गुम्फ या समास), और अभावार्थक रूप में दोष आदि की उपेक्षा न काव्य में सम्भव है और न काव्यशास्त्र में, अतएव उनके प्रति हिन्दी साहित्य के भिन्न भिन्न युगों में कवियों तथा आचार्यों का अपना कोई न कोई निश्चित दृष्टिकोण रहा ही है और उनका यथाप्रसंग विवेचन भी किया गया है। प्रस्तुत निबन्ध में हम उसी की ऐतिहासिक समीक्षा करेंगे।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में एक ओर स्वयंभू आदि प्राचीन हिन्दी के कवियों की और दूसरी ओर चन्द आदि पिंगल के कवियों की कतिपय काव्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी पंक्तियाँ मिल जाती हैं। उनके आधार पर किसी निश्चित सिद्धान्त की स्थापना करना चाहे कठिन हो, किन्तु समग्र काव्य के अध्ययन के साथ साथ तो उनकी सहायता से उनके रचयिताओं के काव्यगत दृष्टिकोण के विषय में धारणा बनाई ही जा सकती है। उदाहरण के लिए स्वयंभू की निम्नलिखित प्रसिद्ध पंक्तियाँ लीजिए :

अक्खर-वास जलोह मणोहर । सुयलंकार-खंद मच्छोहर ।
दीह-समास-पवाहा बंकिय । सक्कय पायय-पुलिणालंकिय ।

देसी-भाषा उभय तदुज्जल । कवि-दुक्कर घण-सद् सिलायल ।

अर्थ-बहुल कल्लोला गिद्धिय । आसा-सय-सम उह परिद्धिय ।

अर्थात् रामकथा-रूपी सरिता में अक्षर ही मनोहर जलौक हैं, सुन्दर अलंकार तथा छन्द मीन हैं, दीर्घ समास बंकिम प्रवाह हैं । संस्कृत-प्राकृत के पुलिन हैं—देशी भाषाएं दो उज्ज्वल तट हैं । कवियों के लिए दुष्कर सघन शब्दों के शिलातल हैं । अर्थ-बहुला कल्लोलें हैं शतशत आशाओं के समान तरंगे उठती हैं ।

उपर्युक्त पंक्तियों में स्वयंभू ने स्वभावतः उन उपकरणों का उल्लेख किया है जिन्हें वे सत्काव्य के लिए आवश्यक समझते हैं : अक्षर-गुम्फ, अलंकार, छन्द, दीर्घ समास, संस्कृत-प्राकृत के शब्द, सघन शब्द-बंध, अर्थ-बाहुल्य आदि । इनमें से अक्षर-गुम्फ, दीर्घ समास, सघन शब्द-बंध आदि स्पष्टतः रीति के तत्व हैं । महाकाव्य की शैली स्वभाव से ही ओज-प्रधान होती है—अतएव उसके लिए गौड़ीया रीति के तत्व प्रायः अनुकूल पड़ते हैं । इस प्रकार स्वयंभू रीति को काव्य का आवश्यक अंग मानते हैं । परन्तु वैसे उनका दृष्टिकोण निस्संदेह रसवादी ही है—वे तुलसीदास के साहित्यिक पूर्वज हैं ।

चन्द आदि कवि भी रसवादी ही थे ।—शास्त्रविद् होने के कारण काव्य के शास्त्रीय तत्वों—का रीति, गुण, अलंकार, आदि का—उनके काव्य में यथावत् सन्निवेश है, परन्तु रीतिवाद से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था । विद्यापति में रसवाद अपनी चरम सीमा पर है—परन्तु उनको अपनी काव्य-भाषा पर भी कम अभिमान नहीं था : बालचन्द के समान उनकी भाषा में नागर-मन को मुग्ध करने की अद्भुत शक्ति थी । इसी प्रसंग में उन्होंने काव्य-भाषा के विषय में एक बार फिर अपने विचार का संकेत दिया है :

सकय बांणी बृहयन भावई, पाउअ रस को भम्म न पावई ।

देसिल बअनना सब जन मिट्टा, तैं तैंसन जम्पओ अवहट्टा ।

(कीर्तिलता)

संस्कृत केवल विद्वानों को ही रुचिकर हो सकती है, प्राकृत रस का मर्म नहीं पाती । देशी बाणी सभी को मीठी लगती है, इसलिए मैं अवहट्ट भाषा में

काव्य रचना करता हूँ। अतएव विद्यापति के मत से काव्य-भाषा के दो मूल गुण हैं नागरता (अग्राम्यत्व) और माधुर्य। ये दोनों पांचाली के आधार-भूत गुण हैं। इस प्रकार विद्यापति अपने संवेद्य रस के अनुसार पांचाली रीति का स्तवन करते हैं।

निर्गुण भक्ति-सम्प्रदाय के अन्तर्गत कबीर आदि ज्ञानमार्गी कवियों का तो रीति से कोई सम्बन्ध ही नहीं था—उनके काव्य में विशिष्ट पद-रचना के लिए अवकाश ही नहीं था। इन कवियों की अपेक्षा प्रेममार्गी कवियों का लगाव काव्यांगों से थोड़ा अधिक था यद्यपि भारतीय काव्यशास्त्र में उनकी भी कोई विशेष गति नहीं थी। स्वभावतः उनके काव्य में भी सैद्धान्तिक विवेचन कहीं नहीं मिलता—परन्तु उनके अध्ययन से इतना स्पष्ट अवश्य हो जाता है कि वे सब रस-ध्वनिवाद के अन्तर्गत ही आते हैं—रहस्यवाद जिसमें व्यक्त की अपेक्षा अव्यक्त या अर्धव्यक्त के प्रति प्रणय-निवेदन है—जिसके रहस्य संकेतों के लिए सांकेतिक भाषा का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है—शास्त्रीय शब्दावली में रसध्वनि के अन्तर्गत ही आता है। व्यावहारिक दृष्टि से प्रेममार्गी काव्यों में रीति, गुण, अलंकार आदि की अपेक्षा नहीं हुई—जायसी, उसमान आदि की पद-रचना में गुणसम्पदा यथास्थान वर्तमान है, परन्तु उनका रीतिवाद से कोई सम्बन्ध नहीं था। रीति का प्रयोग अनायास ही रस के आग्रह से हो गया है—उसे महत्व नहीं दिया गया।

सगुण भक्तों में कृष्णकाव्य के रचयिताओं ने काव्य के आन्तरिक तथा बाह्य दोनों पक्षों को समुचित महत्व दिया है। सूर की कला-समृद्धि और नन्ददास की पद-रचना का जड़ाव हिन्दी साहित्य में प्रसिद्ध है। मूलतः रसवादी होते हुए भी ये कवि पद-रचना के सौन्दर्य के प्रति अत्यन्त सचेष्ट थे—नन्ददास को जड़िया की उपाधि देकर हिन्दी साहित्य की परम्परा उनके पद-रचना-वैशिष्ट्य का ही गुण-गान करती रही है, और इसमें संदेह नहीं कि नन्ददास हितहरिवंश आदि कवियों में रीति की जितनी प्रभूत गुण-सम्पदा मिलती है, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। फिर भी ये कवि रीतिवादी नहीं थे।—यही बात तुलसी आदि रामभक्त कवियों के विषय में भी कही जा सकती है। तुलसी का शास्त्र से घनिष्ठ परिचय था। स्वान्तः सुखाय भक्ति-साधन-रूप होते हुए भी तुलसी का काव्य शास्त्रीय काव्य है। नन्ददास, हितहरिवंश आदि की भाँति तुलसीदास भी अपने रचना-कौशल के प्रति सचेष्ट हैं।

तुलसी के काव्य में, व्यवहार-रूप में तो, रीति तथा उसके तत्वों का सम्यक् सन्निवेश है ही—एकाध स्थान पर सैद्धान्तिक उल्लेख भी है :

कवित-रीति नहिं जानौं, कवि न कहावौं ।

यहां रीति शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में हुआ है—मार्ग, अथवा कवि-प्रस्थान-हेतु के रूप में अथवा और भी व्यापक अर्थ में—जैसा कि हिन्दी काव्यशास्त्र में हुआ है । इस प्रकार यहां कवित-रीति का अर्थ काव्य-कला का ही है : विशिष्ट पद-रचना का नहीं है । रामचरितमानस की भूमिका में 'सकल कला, सब विद्या हीनू' कह कर तुलसीदास ने इसी अर्थ की पुष्टि की है । काव्य-कला के उपकरण हैं :

आखर अरथ अलंकृत नाना । छंद प्रबंध अनेक विधाना ।

भाव-भेद रस-भेद अपारा । कवित-दोष-गुण विविध प्रकारा ॥

अर्थात् वर्ण, अर्थ, अलंकार, छंद, प्रबन्ध-विधान (वस्तु-विधान) रस, भाव तथा गुण, और भावात्मक रूप से दोष । इनमें से गुण तथा वर्ण-योजना रीति के तत्व हैं । पद-रचना अथवा शब्द-गुम्फ के महत्व की ओर भी तुलसी ने इसी प्रसंग में एक स्थान पर संकेत किया है : जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं राम चरित बर ताग—यहां पोहना अथवा पिरोना शब्द का प्रयोग गुम्फन-कला—पदरचना की ओर सूक्ष्म संकेत करता है । इस प्रकार तुलसीदास रीति और उसके तत्वों के महत्व का निस्संदेह ही स्वीकार करते हैं, परन्तु फिर भी उन्हें राम (रस) के अधीनस्थ ही मानते हैं, स्वतंत्र नहीं । काव्य का सम्पूर्ण चमत्कार राम-रस के बिना व्यर्थ है :

भनिति विचित्र सुकवि-कृत जोऊ । राम-नाम बिनु सोह न सोऊ ।

और, आगे चलकर तो तुलसी ने काव्य-तत्वों के पारस्परिक महत्व को प्रायः स्पष्ट ही कर दिया है :

अरथ अनूप सुभाव सुभासा । सोइ पराग मकरंद सुबासा ।

धुनि अवरेब कवित गुन जाती । मीन मनोहर से बहु भाँति ।

अर्थ, भाव, आदि को उन्होंने जहां पराग और मकरंद के सदृश माना है वहाँ ध्वनि, वक्ता गुण आदि को मीन कहा है । यद्यपि इस प्रकार के उल्लेख केवल संकेत मात्र हैं और उनमें यथातथ्य सिद्धान्त-निरूपण ढ़ंडना उचित नहीं होगा, तथापि उनसे कवि के दृष्टिकोण का आभास अवश्य मिल जाता है ।

तुलसी के उपरांत तो एक प्रकार से रीतिकाव्य का ही आरंभ जाता है—जिसमें काव्य के अंग-उपांगों का विवेचन सिद्धान्त रूप से किया गया है । जैसा कि मैंने आरम्भ में संकेत किया है रीतिकाल में भी रस का ही बोझ बाला रहा । रीतिवाद की पुनर्प्रतिष्ठा का तो प्रश्न ही नहा उठा—रीति तथा उसके तत्त्वों का विवेचन भी प्रायः उपेक्षित ही रहा क्योंकि केवल छः-सात आचार्यों को छोड़ कर अन्य रीति कवियों ने इस प्रसंग का स्पर्श ही नहीं किया ।

केशवदास

केशवदास रीतिकाल के प्रवर्तक आचार्य हैं । उन्हें पूर्व-ध्वनि अलंकार-वादी परम्परा और उत्तर-ध्वनि शृंगारवादी परम्परा—दोनों को—हिन्दी में अवतरित करने का श्रेय प्राप्त है । उन्होंने कविप्रिया में अलंकार और दोष तथा रसिकाप्रिया में मूलतः रस का वर्णन किया है । रीति का वर्णन तो उन्होंने नहीं किया—किन्तु रीति की सहधर्मा रसवृत्तियों का उल्लेख रसिकाप्रिया के अंत में अवश्य मिलता है ।

बाँधहु वृत्ति कवित्त की, कहि केशव विधि चारि ।

१४।४२

ये चार वृत्तियाँ हैं—कैशिकी, भारती, आरभटी और सात्वती ।

अथ कैशिकी लक्षण—

कहिये केशवदास जहँ, करुण हास शृंगार ।
सरल वरण शुभ भाव जहँ, सो कैशिकी विचार ।

अथ भारती लक्षण—

वरणे जामैं वीर रस, अरु अद्भुत रस हास ।
कहि केशव शुभ अर्थ जहँ, सो भारती प्रकास ॥

आरभटी—

केशव जामैं रुद्र रस, भय बीभत्सक जान ।
आरभटी आरम्भ यह, पद पद जमक बखान ।

सात्वती—

अद्भुत वीर शृंगार रस, सम रस वरणि समान ।

सुनतहि समुक्त भाव जिहि, सो सात्विकी सुजान ।

वास्तव में उपर्युक्त वृत्तियां मूलतः नाट्य वृत्तियां ही हैं काव्य में इनका प्रयोग सामान्यतः नहीं होता । इनका सम्बन्ध वाणी के अतिरिक्त कायिक और मानसिक चेष्टाओं से भी है : कायवाङ्मनसां चेष्टा एव सह वैचित्र्येण-वृत्तयः ॥ (अभिनव)

केशव ने भरत के आधार पर रस के प्रसंग में वृत्तियों का भी वर्णन चलते चलते कर दिया है । परन्तु केशव के वृत्ति-वर्णन में शास्त्रीय वर्णन से कुछ भिन्नता है—वास्तव में आरभटी को छोड़ शेष सभी के लक्षण भरत से भिन्न हैं । कैशिकी में भरत केवल शृंगार और हास्य का विधान मानते हैं, किन्तु केशव ने उसमें करुण भी जोड़ दिया है । भारती में भरत ने करुण और अद्भुत का विधान किया है, किन्तु केशव ने करुण के स्थान पर वीर और हास्य को भी भारती के आश्रयभूत रसों में मान लिया है । सात्वती जहां सत्व से उद्भूत 'वीररौद्राद्भुताश्रया' है, वहां केशव की सात्वती (सात्विकी ?) में रौद्र के स्थान पर शृंगार का विधान है और उसमें समरसता का गुण माना गया है । किन्तु टीकाकार सरदार कवि ने 'अद्भुत रुद्रवीर रस' पाठ का भी उल्लेख किया है जो भरत के मतानुकूल है । केशव के सात्वती लक्षण में एक और भी विशेषता का उल्लेख है : सुनतहि समुक्त भाव जिहि—अर्थात् प्रसाद गुण । केशव का विवेचन अधिक शास्त्र-सम्मत नहीं है—रसिकप्रिया में नाट्यवृत्तियों का वर्णन करने की संगति भी कुछ नहीं बैठती । वास्तव में केशव की वृत्ति, जैसा कि डा० भगीरथ मिश्र ने लिखा है, रस-वर्णन शैली जान पड़ती है, और कैशिकी तथा सात्वती के लक्षणों में 'सरल वरण' 'पद पद जमक बखान', और 'सुनतहि समुक्त भाव जिहि'—जैसे वाक्यांशों से इस मत की पुष्टि हो जाती है ।

इस प्रकार केशव की वृत्तियां नाट्यवृत्तियों की अपेक्षा रीतियों के ही अधिक निकट हैं । उनमें अर्थ-गुण और शब्द-गुण दोनों का सामंजस्य है । सरलवर्णा तथा शृंगारकरुणहासाश्रया कैशिकी पांचाली के समकक्ष है, यमकादि के प्राचुर्य से गाढ़बन्धा तथा रौद्रमयानकवीभस्स रसों की आश्रिता आर-

भटो गौड़ीया के, और यदि रसिकप्रिया का स्वीकृत पाठ ही शुद्ध है (?) तो, समरस सात्वती सर्वरस-साधारण वैदर्भी के समकक्ष है ।

सेनापति के लक्षणग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु उनके कवित्तरत्नाकर में कुछ पंक्तियाँ ऐसी मिल जाती हैं जो उनकी रीति-सम्बन्धी धारणा की ओर थोड़ा-सा संकेत करती हैं :

१. दोष सो मलीन गुनहीन कबिताई है तो,
कीने अरबीन परबीन कोई सुनि है ।
२. राम अरचतु सेनापति चरचतु दोऊ,
कवित रचतु याते पद चुनि चुनि है ।
३. अच्छर हैं विसद करत ऊखें आपुस में,
जाते जगती की जड़ताऊ विनसति है ।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि सेनापति (१) दोष से मलिन तथा गुणहीन काव्य को सर्वथा निरर्थक प्रयास मानते हैं । इससे निष्कर्ष यह निकला कि सत्काव्य के लिए दोष का त्याग और गुण का ग्रहण अनिवार्य है । वामन ने रीति की परिभाषा में यही कहा है । (२) चुनचुन कर पद-रचना करना जिसमें (३) अच्छर आपस में स्पर्द्धा करते हों—विशिष्टा पदरचना की ही व्याख्या है । इस प्रकार सेनापति निश्चय ही रीति का महत्व स्वीकार करते हैं ।

चिंतामणि

सेनापति के उपरांत तो चिंतामणि के आविर्भाव के साथ-साथ रीतिकाव्य की अखण्ड धारा प्रवाहित हो जाती है । चिंतामणि ने अपने कविकुलकल्पतरु में रीति और उसके तत्वों का विवेचन किया है । उन्होंने काव्य-पुरुष का रूपक बाँधते हुए विभिन्न काव्यांगों का स्थान निर्धारित किया है ।

- सबद अर्थ तनु जानिये, जीवित रस जिय जानि ।
- अलंकार हारादि ते उपमादिक मन आनि ॥
- श्लेषादिक गुन सूरतादिक से मानो चित्त ।
- बरनौ रीति सुभाव ज्यों, वृत्ति वृत्ति-सी मित्त ॥

अर्थात् चिंतामणि के अनुसार शब्द अर्थ काव्य का शरीर है रस प्राण है, अलंकार आभूषण हैं, गुण शौर्यादि गुणों के समान हैं, रीति काव्य का स्वभाव है, और वृत्ति काव्य-पुरुष की वृत्ति के समान है।—इस प्रकार :

(१) वे रीति को काव्य का स्वभाव मानते हैं ।

(२) और, रीति तथा वृत्ति में कदाचित् अंतर मानते हैं—यद्यपि यह अंतर अत्यन्त सूक्ष्म है जितना कि मनुष्य के स्वभाव और उसकी वृत्ति में ।

इस स्थल पर कुछ प्रश्न अनायास ही उठ खड़े होते हैं । रीति को काव्य का स्वभाव मानने का क्या अर्थ है ? भारतीय काव्यशास्त्र का अध्येता इस पर चौंक सकता है क्यों कि शास्त्र में रीति को आत्मा, अंग-संस्थान आदि तो माना गया है परन्तु स्वभाव प्रायः कहीं नहीं माना गया । स्वभाव का प्रयोग चिंतामणि ने किसके आधार पर किया है ? इससे उनका अभिप्राय क्या है ? और, स्वभाव तथा वृत्ति में क्या अन्तर है ?

संस्कृत काव्यशास्त्र में केवल विद्यानाथ यथा अर्कसूरि ने रीति को काव्य का स्वभाव माना है । विद्यानाथ ने उसे काव्य का आत्मोत्कर्षावहस्वभाव कहा है और अर्कसूरि का अभिमत है :—स्वभावैरिव रीतिभिः ।

चिंतामणि ने प्रचलित काव्य-ग्रन्थों को छोड़ विद्यानाथ का प्रतापरुद्र-यशोभूषण तथा अर्कसूरि की अप्रकाशित कृति साहित्य-कौमुदी का अध्ययन किया था या नहीं और यदि किया भी था तो मान्य मतों को छोड़ इस अप्रचलित मत का ग्रहण क्यों किया, यह विचारणीय है । चिंतामणि अधीत कवि थे, इसमें सन्देह नहीं है । उनके कविकुलकल्पतरु से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, काव्यादर्श, आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों का भी यथावत् अध्ययन किया था । यह किसी प्रकार भी असम्भाव्य नहीं है कि प्रतापरुद्रयशोभूषण भी उन्होंने देखा हो और उसके मत को अपनी धारणा के अनुकूल पाकर उद्धृत कर लिया हो । परन्तु मूल प्रश्न तो अब भी रह जाता है : स्वभाव से क्या तात्पर्य है ? कुतक ने मार्ग अथवा रीति का कवि-स्वभाव से प्रत्यक्ष सम्बन्ध माना है 'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते ।' स्वभाव तीन प्रकार के होते हैं सुकुमार, विचित्र और मध्यम—अतएव काव्य-मार्ग भी इन्हीं के अनुसार तीन ही हैं : सुकुमार, विचित्र और मध्यम । जैसा कवि का स्वभाव होगा, वैसी ही उसकी रीति होगी । हमारा अनुमान है कि चिंतामणि ने कुतक का आधार ही अधिक ग्रहण किया है और

उन्हीं के अनुसरण पर रीति को काव्य का स्वभाव मान लिया है : जिस प्रकार स्वभाव आत्मा की अभिव्यक्ति का प्रकार है, इसी प्रकार रीति भी रस की अभिव्यक्ति का प्रकार है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि चिंतामणि रीति को अंग-संस्थान की भाँति बाह्य तत्व न मानकर काव्य का आंतरिक तत्व मानते हैं—उनके मत से रीति का काव्य के साथ आंतरिक सम्बन्ध है।

अब दूसरा प्रश्न रह जाता है : स्वभाव और वृत्ति के भेद से चिंतामणि रीति और वृत्ति में क्या भेद मानते हैं ? स्वभाव और वृत्ति का भेद वास्तव में अत्यन्त सूक्ष्म है—स्वभाव अपेक्षाकृत व्यापक है वृत्ति स्वभाव का एक रूप है : स्वभाव का अर्थ है प्रकृति, वृत्ति का अर्थ है व्यवहार : व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते। व्यक्तिके सहज मौलिक गुणों का समन्वित रूप है प्रकृति या स्वभाव और उसके व्यवहार या प्रवर्तन का ढंग है वृत्ति या प्रवृत्ति। इस प्रकार दोनों में सूक्ष्म भेद यह है कि स्वभाव अधिक मूलगत और व्यापक है, वृत्ति अपेक्षाकृत बाह्य है और उसकी परिधि भी संकुचित है। यही अन्तर रीति और वृत्ति में भी है—रीति अधिक व्यापक है, उसमें अर्थ और शब्द दोनों का सामरस्य रहता है, वृत्ति का आधार मूलतः वर्ण-ध्वनि है। दोनों ही रस की अभिव्यक्ति करती हैं परन्तु रीति का सम्बन्ध रस के साथ अधिक घनिष्ठ और आन्तरिक है, वृत्ति का अपेक्षाकृत बाह्य है। और, यह मत प्रायः ठीक ही है।

परन्तु इस अन्तर का निर्वाह नहीं हो पाया। चिंतामणि ने मम्मट के अनुसार वृत्तियों का वर्णन वृत्त्यनुप्रास के भेदों के रूप में किया है :

माधुर्यो विजक वरन उपनागरिका होइ ।

मिलि प्रसाद पुनि कोमला परुषा वोज समोइ ॥

यहीं मम्मट के ही अनुसरण पर चिंतामणि यह भी मान लेते हैं कि इन वृत्तियों को कुछ आचार्य (वामन आदि) वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली रीतियों के नाम से अभिहित करते हैं। यह मत पूर्वोक्त भेद-प्रदर्शन के प्रतिकूल प्रतीत होता है और मन में एक बार फिर यह प्रश्न उठता है कि चिंतामणि रीति और वृत्ति में भेद मानते भी थे या नहीं। चिंतामणि का विवेचन मम्मट पर अत्यधिक आश्रित है और प्रायः यही धारणा होती है कि इस प्रसंग में भी मम्मट का अनुसरण करते हुए उन्होंने वामनीया रीतियों को वृत्तियों का ही नामान्तर माना है। परन्तु फिर उपर्युक्त दोहे में रीति को काव्य का स्वभाव

और वृत्ति को काव्य की वृत्ति मानने से क्या अभिप्राय है ? इस द्विविधा का निराकरण यही हो सकता है कि चिंतामणि मूलतः तो काव्य के इन दो रूपों का पृथक् अस्तित्व मान कर चले हैं, परन्तु दोनों में अन्तर इतना सूक्ष्म है और मम्मट का प्रभाव उन पर इतना गहरा है कि अन्त में इन्हें यदि कोई एक भी मानता है तो उन्हें विशेष आपत्ति नहीं होती। वास्तव में कविकुल-कल्पतरु के प्रारम्भिक सिद्धान्त-विवेचन में चिंतामणि का अपना अभिमत अधिक व्यक्त हुआ है—उन्होंने अपने मत से काव्य के सामान्य सिद्धान्तों का निरूपण वहीं किया है।

यहां आधुनिक काव्य-शास्त्र के अध्येता के मन में दो शंकाएं उठ सकती हैं : (१) कोमला को प्रसादगुण-विशिष्ट मानना कहां तक उचित है ? (२) उपनागरिका, परुषा और कोमला को क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली का पर्याय मानने में क्या संगति है ? परन्तु इन शंकाओं का सम्बन्ध चिंतामणि के विवेचन से न होकर उसके आधार-ग्रंथ काव्य-प्रकाश से ही है। मम्मट ने उपनागरिका में माधुर्यव्यंजक शब्दों की स्थिति मानते हुए माधुर्य-गुण और उपनागरिका का नित्य सम्बन्ध माना है। इसी प्रकार परुषा में ओजोव्यंजक वर्णों का आधार मान कर परुषा और ओज का मौलिक सम्बन्ध माना गया है। कोमला के विषय में मम्मट का सूत्र है “कोमला परैः”। ‘पर’ का अर्थ है माधुर्य और ओजोव्यंजक वर्णों के अतिरिक्त अन्य वर्ण। मम्मट केवल इतना ही कहते हैं—किन्तु उनके टीकाकार गोविन्द ठक्कुर और वामनाचार्य आदि स्पष्ट ही ‘परैः’ का अर्थ कर देते हैं “ओजोमाधुर्यव्यंजकातिरिक्तैः प्रसादवद्भिरक्षरैः (काव्यप्रदीप)—अर्थात् प्रसादव्यंजक वर्णों के द्वारा।” और इस प्रकार कोमला का प्रसाद के साथ नित्य सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। क्या मम्मट का आशय यही था—यह कहना कठिन है, परन्तु उनके टीकाकार सभी दिग्गज विद्वान थे, अतएव यह मानना भी उतना ही कठिन है कि इन्होंने ही भूल की है। फिर भी प्रश्न औचित्य का है। क्या प्रसाद को कतिपय वर्णों और किसी एक वृत्ति में परिसीमित किया जा सकता है ? स्वयं मम्मट का स्पष्ट कथन है :

श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।

साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥

(का० प्र० ८।७६)

अतएव प्रसाद को तो वास्तव में 'सर्व-गुण-साधारण', 'सर्व-संघटना-साधारण' ही माना गया है—उसे न तो किसी विशिष्ट रस, न किसी विशिष्ट वर्ण-योजना और न किसी विशिष्ट संघटना या वृत्ति तक परिसीमित माना गया है ।

मम्मट कहते हैं : + + + प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।

+ + सर्वत्रेति । सर्वेषु रसेषु, सर्वासु रचनासु च ।
(काव्यप्रकाश ८।७१)

उपर्युक्त उक्तियों की 'कोमला और प्रसाद के नित्य सम्बन्ध से' किस प्रकार संगति बैठती है, यह विचारणीय है ।

मम्मट इस शंका का समाधान कैसे करते यह कहना आज कठिन है । इसका एक समाधान हमारी समझ में यही आता है कि मम्मट प्रसाद को सर्व-वृत्ति-साधारण गुण मानते हैं जो उपनागरिका तथा गौड़ी दोनों में अनिवार्य रूप से वर्तमान रहता है । इन दोनों वृत्तियों में इस सामान्य गुण के साथ साथ एक विशिष्ट गुण और भी होता है—यही इनकी विशेषता है । किन्तु कोमला में विशिष्ट गुण कोई नहीं रहता—केवल साधारण गुण प्रसाद ही रहता है । इस प्रकार वह पाश्चात्य रीतिशास्त्र की सरल (प्रसन्न) शैली की पर्याय प्रतीत होती है । प्रसाद गुण उसमें परिसीमित नहीं है—वरन् वह ही प्रसाद गुण तक परिसीमित है ।—यह हमने अपने मन की शंका का समाधान किया है, मम्मट का रहस्य मम्मट के विशेषज्ञ जानें ।

दूसरी शंका इसी से सम्बद्ध यह है कि वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली को उपनागरिका, परुषा और कोमला का पर्याय मम्मट ने किस तरह मान लिया है । जब उपनागरिका केवल माधुर्य के आश्रित है तो वह समग्रगुण-भूषिता वैदर्भी की पर्याय कैसे हो सकती है ? इसी प्रकार सौकुमार्य और माधुर्य पर आश्रित पांचाली की समतुल्य प्रसादगुण विशिष्ट कोमला को कैसे माना जा सकता है ? वास्तव में यदि संगति ही बैठाना है तो यह क्रम इस प्रकार होना चाहिए :

वैदर्भी रीति —	समग्र गुण	— उपनागरिका } (मौढा = रुद्रट) वृत्ति }
गौड़ी रीति —	भोज गुण	— परुषा वृत्ति
पांचाली रीति—	माधुर्य गुण	— कोमला वृत्ति

परन्तु यह चिंतामणि का दोष नहीं है—वे तो अनुवादक मात्र हैं : अनुवादको न दुष्यते । वास्तव में उपर्युक्त असंगति संस्कृत काव्यशास्त्र में मम्मट के भी पहले से चली आ रही है, और उसका कारण कदाचित् यह है कि लक्षणों में वैदर्भी को समग्रगुण-सम्पन्न मानते हुए भी आरम्भिक प्रायः सभी आचार्यों ने व्यवहार में उसके माधुर्य आदि गुणों का ही यशोगान अधिक किया है ।

कविकुलकल्पतरु में गुण की विस्तार के साथ चर्चा है । चिंतामणि मम्मट आदि के अनुसार केवल तीन गुणों की ही सत्ता मानते हैं—शेष गुण उन्हीं में अंतर्भूत हो जाते हैं ।

प्रथम कहत माधुर्य, पुनि ओज प्रसाद बखानि ।

त्रिविधै गुन तिनमैं सबै सुकवि लेत मनमानि ॥

इनमें माधुर्य चित्त की दुति, और ओज दीप्ति का कारण है । प्रसाद गुण वहां होता है जहां अक्षरों में अर्थ इस प्रकार व्यक्त रहता है जिस प्रकार सूखे ईंधन में अग्नि, या स्वच्छ जल में जल का गुण तरलता । माधुर्य गुण संयोग शृंगार, विप्रलंब, करुण और शान्त में रहता है : संयोग की अपेक्षा विप्रलंब, करुण और शान्त में उसका उत्कर्ष और भी अधिक होता है । इसी माधुर्य को चिंतामणि कवित्व का मूल तत्व मानते हैं :

सो माधुर्य बखानिये यहई तत्व कवित्त ।

मूल गुण ये ही तीन हैं । (दण्डी, वामन आदि) प्राचीनों ने दश गुण माने हैं जो वैदर्भी रीति के प्राण हैं । परन्तु चिंतामणि मम्मट के आधार पर यही मानते हैं कि शेष सात गुणों की स्वतंत्र सत्ता नहीं है :

चिंतामणि ने इस प्रसंग में वामन के आधार पर प्रायः उन्हीं के लक्षण और कहीं कहीं उनके उदाहरण भी देकर दश शब्द-गुणों और दश अर्थ-गुणों का विस्तार वर्णन करते हुए अंत में मम्मट की युक्तियों के द्वारा उन्हें कहीं दोषाभाव, कहीं अलंकार कहीं दोष और कहीं अन्य गुणों के रूपान्तर मात्र सिद्ध किया है । वास्तव में हिन्दी रीतिशास्त्र में गुण का इतना सांगोपांग-वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता—चिंतामणि ने वामन और मम्मट दोनों के गुण-विवेचन का हिन्दी में सम्यक् अवतरण करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है ।

हमारी धारणा है कि उनके अतिरिक्त वामन के गुण-विवेचन का प्रभाव हिन्दी के कदाचित् एकाध ही रीतिकार ने ग्रहण किया है ।

उपर्युक्त विवेचन मौलिक नहीं है, इसे मम्मट के काव्यप्रकाश से प्रायः अनूदित ही समझना चाहिए । इसमें केवल एक नवीनता दृष्टिगत होती है : वह यह कि चिंतामणि ने माधुर्य को कविता का प्राण-तत्त्व माना है । मम्मट आदि का ऐसा मत नहीं है । इस अभिमत के लिए तो शृंगार आदि मधुर रसों के प्रति चिंतामणि का सहज आग्रह ही उत्तरदायी है ।

कुलपति

चिंतामणि के उपरांत दूसरे प्रसिद्ध आचार्य हुए कुलपति मिश्र—उन्होंने रीति का स्वतन्त्र विवेचन न कर अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ रस-रहस्य के छठे वृत्तान्त में रीति के मूल तत्त्व गुण का वर्णन किया है और सातवें में रीति की पर्याय वृत्तियों का । चिंतामणि की भाँति इनका आधार भी काव्यप्रकाश ही है, अपने गुण-लक्षण में कुलपति ने मम्मट का अक्षरशः अनुवाद मात्र करके रख दिया है :

जो प्रधान रस धर्म को, निपट बड़ाई हेत ।
 सो गुन कहिये अचल छित, सुख कौ परम निकेत ॥
 (रस रहस्य)

ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादया इवात्मना ।
 उत्कर्ष-हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥
 (का० प्र०)

बीस गुणों में से इन्होंने भी तीन की ही सत्ता मानी हैः—

तीन गुणन ही बीस गुण, मधुररु ओज प्रसाद ।
 अधिक सुखद लखिये नहीं, बरनै कौन सवाद ॥

कुछ का इन तीनों में ही अन्तर्भाव हो जाता है, कुछ दोषभाव मात्र हैं और कुछ दोषरूप ही हैं :

कछूक इनहीं करि गहै, कछूक दोष बियोग ।
 कछुक दोष ताको भजत, यों गुण बीस न जोग ॥

प्राचीन कवि बीस गुणन को कहते हैं, वे इनसे न्यारे नहीं हैं ।
(२० २०)

अतएव कुलपति ने केवल तीन गुणों के ही लक्षण किये हैं । इन गुणों के माध्यम हैं वर्ण, समास और रचना । सामान्यतः ये गुणों पर ही आश्रित हैं, किन्तु इन पर वक्ता, अर्थ (वाच्य) और प्रबन्ध का भी नियंत्रण रहता है : वक्ता, वाच्य और प्रबन्ध के विपर्यय से इनका रूप उलटा हो जाता है :

यद्यपि गुण सब हैं तऊ रचना बरन समास ।

वक्ता अर्थ प्रबन्ध वश, उलटे होंहि विलास ॥

इसके आगे गुण और अलंकार का भेद है :

होय बड़ाई दुहुन तें, विरस करें नहिं कोय ।

अलंकार अरु गुनन तें, भेद कौन विधि होय ?

रसहि वढ़ावै, होय जहँ कबहुँक अंग निवास ।

अनुप्रास उपमादि दै, अलंकार सुप्रकाश ॥

दोनों रस के उपकारक हैं—तब दोनों में भेद क्या है? भेद यह है कि अनुप्रास उपमादि अलंकार अंग में निवास करते हुए ही (अंगद्वारेण—मम्मट) रस का कभी कभी उत्कर्ष करते हैं । अर्थात् अलंकार शब्द-अर्थ का पहले उत्कर्ष करता हुआ फिर रस का उत्कर्ष करता है—और वह भी कभी कभी । किन्तु गुण सदा ही रस का उत्कर्ष करता है । और स्पष्ट शब्दों में गुण का रस के साथ नित्य सम्बन्ध है, अलंकार का अनित्य । कुलपति का आशय यही है—पर वे उसे पूरी तरह व्यक्त नहीं कर पाये । उनका उपर्युक्त दोहा मम्मट का असमर्थ अनुवाद मात्र होकर रह गया है ।

कुलपति ने वृत्तियों का वर्णन भी मम्मट और चिंतामणि की भाँति वृत्त्यनुप्रास के अंतर्गत ही किया है :

उपनागरिका मधुर गुन-व्यंजक वरनन होय ।

ओज-प्रकाशक वरन तें, पूरुष कहिये सोय ॥

वरन प्रकाश प्रसाद को, करै कोमला सोय ।

तीन वृत्ति गुण भेद तें, कहैं बड़े कवि लोय ॥

यहां भी चिंतामणि की भाँति कोमला और प्रसाद गुण का सम्बन्ध माना गया है, और अंत में इन तीनों वृत्तियों को रीतियों के साथ एकरूप कर दिया गया है :

वैदर्भी गौड़ी कहत, पुनि पांचाली जानि ।
इनहीं सों कोऊ कवी, बरनत रीति बखानि ॥

देव

देव का रीति-गुण-वर्णन मम्मट की परम्परा से बहुत कुछ भिन्न है । उन्होंने प्राचीन आचार्यों का आधार अधिक लिया है । रीति-गुण का विवेचन देव ने काव्यरसायन में किया है । रीतियों को उन्होंने काव्य का द्वार मानते हुए, रस से उनका अभिन्न सम्बन्ध माना है—

ताते पहिले बनिए काव्य-द्वारा रस-रीति ।

काव्य-पुरुष के रूपक में रीति की समता अंग-संस्थान से की गई है । देव का द्वार से तात्पर्य है माध्यम । इस प्रकार इस विषय में देव का मत रस-ध्वनिवादी आचार्यों के मत से लगभग मिल ही जाता है क्योंकि शरीर भी तो आत्मा की बाह्य अभिव्यक्ति का माध्यम ही है । परन्तु एक बात बड़ी विचित्र मिलती है : वह यह कि उन्होंने रीति और गुण को एक कर दिया है—या यों कहिए कि रीति शब्द का सर्वत्र गुण के स्थान पर प्रयोग किया है । संस्कृत और हिन्दी के भी—आचार्यों ने वैदर्भी, गौड़ी, आदि को रीति कहा है, और प्रसाद, ओज, आदि को गुण । यह ठीक है कि गुण रीति की आत्मा है और रीतियों का वर्गीकरण गुणों के ही आधार पर हुआ है—परन्तु इन दोनों का एकीकरण किसी ने नहीं किया । देव ने वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली का उल्लेख तक न कर प्रसाद, ओज, माधुर्य आदि का ही रीति नाम से वर्णन किया है । यह मानना तो निरर्थक होगा कि देव को इन दोनों के विषय में कोई आंति थी । वास्तविकता यही है कि उन्होंने जानबूझ कर ऐसा किया है । परन्तु कारण कुछ भी हो यह एकीकरण संगत किसी प्रकार भी नहीं माना जा सकता क्योंकि रीति गुण की अपेक्षा अधिक व्यापक है—एक रीति के अन्तर्गत अनेक गुणों का समावेश हो जाता है ।

संस्कृत काव्यशास्त्र में, जैसा कि मैंने आरम्भ में स्पष्ट किया है, रीति और गुण के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में तीन मत हैं : आनन्दवर्धन आदि आचार्य रीति को गुणाश्रित मानते हैं, उद्भट आदि गुण को रीति-आश्रित मानते हैं, और वामन इन दोनों को प्रायः अभिन्न ही मानते हैं। वामन का मत है कि विशिष्ट पदरचना का नाम रीति है और यह विशिष्टता गुणात्मक है। इस प्रकार रीति का स्वरूप गुणात्मक है। परन्तु तत्त्व रूप में दोनों का ऐकात्म्य मानते हुए भी वामन ने व्यवहार रूप में दोनों की पृथक् सत्ता मानी है : वेदभी, गौड़ी, पांचाली रीतियाँ हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, आदि गुण हैं। गुण इन रीतियों के प्राण हैं—इनका वैशिष्ट्य सर्वथा गुणात्मक है, किन्तु फिर भी दोनों की सत्ता अलग ही है।

भरत ने दश गुण माने हैं :—१. श्लेष, २. प्रसाद, ३. समता, ४. समाधि, ५. माधुर्य, ६. ओज, ७. सौकुमार्य, ८. अर्थव्यक्ति, ९. उदारता, १०. कान्ति। भरत के उपरान्त दण्डी और वामन दोनों ने लक्षणों में परिवर्तन-परिशोधन करते हुए इनको ही स्वीकार किया है—दण्डी और वामन ही एक प्रकार से रीति-गुण सम्प्रदाय के अधिनायक हैं। परन्तु आगे चलकर ध्वनिकार ने गुणों की संख्या दस से घटाकर तीन कर दी—उन्होंने माधुर्य, ओज और प्रसाद में ही शेष सात गुणों का अंतर्भाव कर दिया।—मम्मट आदि ने भी इन्हीं को स्वीकृति दी और तब से प्रायः ये तीन गुण ही प्रचलित रहे हैं। परन्तु देव ने इस विषय में पूर्व-ध्वनि परम्परा का अनुसरण करते हुए उपर्युक्त दस गुणों (रीतियों) को ग्रहण किया है—वरन् उन्होंने तो अनुप्रास और यमक को भी गुणों (रीतियों) के अन्तर्गत मानते हुए उनकी संख्या बारह तक पहुँचा दी है। यमक और अनुप्रास को रीति (गुण) मानना साधारतः असंगत है क्योंकि गुण काव्य की आत्मा का धर्म है, दूसरे शब्दों में काव्य का स्थायी धर्म है, इसके विपरीत यमक और अनुप्रास रस के आंतरिक तत्व न होने से काव्य के अस्थायी धर्म ही रहेंगे। परन्तु देव की इस स्थापना से एक महत्वपूर्ण संकेत अवश्य मिलता है : वह यह कि पण्डितराज जगन्नाथ की भाँति वे गुणों की स्थिति अर्थ के साथ-साथ वणों में भी मानते हैं। उपर्युक्त दस गुणों के विवेचन में उन्होंने भरत और वामन की अपेक्षा प्रायः दण्डी का ही अनुसरण किया।—क्रम भी बहुत कुछ दण्डी से ही मिलता है, लक्षण तो कहीं कहीं काव्यादर्श से अनूदित ही कर दिए गए हैं। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति और ओज के

लक्षण प्रायः दण्डी के ही अनुसार हैं। केवल दो-तीन गुण ही ऐसे रह जाते हैं जिनके लक्षण भरत, दण्डी और वामन तीनों से भिन्न हैं। कांति गुण में, देव के अनुसार, सुरुचिपूर्ण चारु वचनावली होनी चाहिये जिसमें लोकमर्यादा की अपेक्षा कुछ विशेषता हो और जो अपने इसगुण के कारण लोगोंको सुखकर हो :

अधिक लोकमर्जाद ते, सुनत परम सुख जाहि ।

चारु वचन ये कांति रुचि, कांति बखानत ताहि ॥

(शब्द-रसायन)

इस लक्षण का शेष भाग तो दण्डी से मिल जाता है, परन्तु दण्डी जहां लोक-मर्यादा के अनुसरण को (लौकिकार्थनातिक्रमात्) अनिवार्य मानते हैं वहां देव में उसके अतिक्रमण का स्पष्ट उल्लेख है। दण्डी के अनुसार तो अप्राकृतिकता अथवा अस्वाभाविकता का बहिष्कार करते हुए लौकिक मर्यादा के अनुकूल स्वाभाविक वर्णन करना ही कांति गुण का मुख्य तत्व है। वामन ने समृद्धि अर्थात् औज्ज्वल्य और रस-दीप्ति को कांति गुण का सार-तत्व माना है—जिसके लिए साधारण प्रचलित शब्दावली का बहिष्कार अनिवार्य है। देव ने या तो दण्डी का अभिप्राय नहीं समझा—या फिर कुछ पाठ की गड़बड़ है। इसके अतिरिक्त एक सम्भावना यह हो सकती है कि ‘अधिक लोक मर्जाद ते’ से देव का अभिप्राय कदाचित् वामन द्वारा निर्दिष्ट साधारण वचना-वली के बहिष्कार का ही हो—परन्तु यह कुछ क्लिष्ट कल्पना ही लगती है। इसी प्रकार उदारता के लक्षण में भी ‘यस्मिन् उक्ते (जाहि सुनत ही)’, तथा ‘उत्कर्ष’ आदि शब्द देव ने दण्डी से ही लिए हैं, परन्तु दण्डी जहां उत्कर्ष की भावना को उदारता का प्राण मानते हैं, वहां देव का कहना है

जाहि सुनत ही ओज को दूर होत उत्कर्ष ।

(शब्द-रसायन)

ओज का उत्कर्ष दूर होने से उनका क्या अभिप्राय है यह जानना कठिन है। प्रयत्न करने पर यही अर्थ निकाला जा सकता है कि उदारता में एक प्रकार का उत्कर्ष होता है, जो ओज के उत्कर्ष से भिन्न होता है—या फिर यहां भी प्रतिलिपिकार की कृपा से पाठ की कुछ उलट फेर है। इसी प्रकार समाधि के लक्षण देव और दण्डी के यों तो समान हैं—किन्तु दण्डी के वहां “लोकसीमानुरोधिना (लोक मर्यादा के भीतर) के स्थान पर देव ने न जाने

क्यों “लोक सौव उल्लै अरथ” लिख दिया है ! यहां भी या तो पाठ की गड़बड़ है या अर्थ समझने में भ्रांति हुई है ।

इस प्रसंग में भी देव ने एक नवीन उद्भावना कर डाली है—वह यह है कि आपने प्रत्येक रीति (गुण) के दो भेद माने हैं—नागर और ग्राम्य । इन दोनों में यह अन्तर है कि नागर रीति में सुरुचि का प्राधान्य होता है, ग्राम्य में रस का आधिक्य होते हुए भी सुरुचि का अभाव रहता है ।

नागर गुन आगर, दुतिय रस-सागर रुचि-हीन ।

(शब्द-रसायन)

वैसे दोनों को अपनी अपनी विशेषता है—एक को उत्कृष्ट और दूसरी को निकृष्ट कहना असंभवता का परिचय देना होगा । —देव की अन्य उद्भावनाओं की भाँति यह भी महत्वहीन ही है और एक प्रकार से असंगत भी क्योंकि पहले तो मानव-स्वभाव में नागर और ग्रामीण का मूलगत भेद मानना ही युक्तिसंगत नहीं है (देव अपने उदाहरणों द्वारा यह अन्तर स्पष्ट करने में प्रायः असफल रहे हैं), फिर यदि इस स्थूल भेद को स्वीकार भी कर लिया जाए, तो कांति, उदारता आदि कतिपय गुण ऐसे हैं जिनके लिए अग्राम्यत्व अनिवार्य है । ऐसी दशा में इनके भी नागर और ग्रामीण भेद करना इनकी आत्मा का ही निषेध करना है ।

शब्द-शक्ति, रीति, गुण आदि के अतिरिक्त देव ने कैशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती वृत्तियों का वर्णन भी किया है जो कि श्रव्यकाव्य का अंग न होकर दृश्यकाव्य का ही अंग मानी जाती हैं । शृङ्गार, हास्य और करुण में कैशिकी (कौशिकी); रौद्र, भयानक और वीर्य में आरभटी; वीर, रौद्र, अद्भुत और शांत में सात्वती; तथा वीर, हास्य और अद्भुत में भारती वृत्ति का प्रयोग होता है । संस्कृत में नाट्य-शास्त्र, दशरूपक, साहित्य-दर्पण आदि में भी रसों के अनुक्रम से ही इनका विवेचन है—परन्तु देव का आधार यहां उपर्युक्त ग्रन्थ न होकर केशवदास की रसिक-प्रिया ही है । रसिक-प्रिया में ठीक इसी क्रम से इनका रसों के साथ सम्बन्ध बैठाया गया है, एक थोड़ा सा अन्तर यह है कि सात्वती के अन्तर्गत शृङ्गार के स्थान पर देव ने भरत के आधार पर रौद्र को माना है, बस; परन्तु केशव में भी शायद यह लिपि-दोष है ।

देव के उपरान्त दास तक प्रायः किसी भी कवि ने रीति अथवा रीतितत्त्वों का विशेष विवेचन नहीं किया । इनके प्रसंग में दो बातें उल्लेख योग्य

हैं : एक तो सूरति मिश्र ने अपने लक्षण में रीति का समावेश करते हुए उसको काव्य का आवश्यक अंग माना है :

वरनन मन-रंजन जहां रीति अलौकिक होइ ।

निपुन कर्म कवि कौ जु तिहि काव्य कहत सब कोइ ॥

जहां तक मुझे स्मरण है संस्कृत-हिन्दी के किसी कवि ने रीति का काव्य-लक्षण में समावेश नहीं किया—गुण का ही प्रायः किया है । दूसरी विशेष बात यह है कि श्रीपति ने अपने श्रीपति-सरोज में अर्थ-गुणों का अलग वर्णन किया है । हिन्दी में अर्थ और शब्द के आधार पर गुणभेद प्रायः नहीं किये गये । एक चिंतामणि ही अपवाद हैं । संस्कृत में भी वामन या भोजराज आदि दो एक आचार्य को छोड़ किसी ने इस भेद को स्वीकार नहीं किया । इस दृष्टि से श्रीपति का अर्थ-गुण-वर्णन एक उल्लेखनीय विशेषता है । सोमनाथ ने अपने रसपीयूषनिधि में गुण का काव्य-लक्षण में उल्लेख किया है—मम्मट के आधार पर उनका लक्षण इस प्रकार है :

सगुन पदारथ दोष विनु, पिंगल मत अचिरुद्ध ।

भूषणजुत कवि-कर्म जो सो कवित्त कहि बुद्ध ॥

परन्तु इन आचार्यों का गुण-लक्षण वामन से थोड़ा भिन्न है । ये गुण को रस का धर्म मानते हैं जबकि वामन उसे शब्द-अर्थ का ही धर्म मानते हैं—फिर भी व्यवहार रूप में दोनों के गुण-वर्णन में बहुत कुछ सादृश्य भी है, इसीलिए गुण का रीति के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध रहा है ।

दास

दास का गुण-वर्णन रीतिकाल के प्रायः अन्य सभी आचार्यों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान है । उन्होंने इस प्रसंग का वर्णन अधिक मनोयोग-पूर्वक और साथ ही स्वतन्त्र रीति से भी किया है ।

दस विधि के गुन कहत हैं, पहिले सुकवि सुजान ।

पुनि तीनै गुन गनि रचौ, सब तिनके दरम्यान ॥

ज्यों सतजन हिय ते नहीं सूरतादि गुन जाय ।

त्यों बिदग्ध हिय में रहें, दस गुन सहज स्वभाय ।

अर्थात् जिस प्रकार सज्जन के हृदय में शौर्य आदि का वास रहता है, इसी प्रकार विदग्ध सहृदय के हृदय में स्वभाव से ही दश गुण निवास करते हैं। दास की यह स्थापना परम्परा से कुछ भिन्न है। परम्परा के अनुसार स्थायी भावों के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे वासना रूप में सहृदय के हृदय में वर्तमान रहते हैं। दास गुणों की भी यही स्थिति मानते हैं : उनका तर्क कदाचित् यह है कि रस के धर्म होने के कारण गुणों का भी वासना से सहज सम्बन्ध है, और शौर्य आदि गुणों की भाँति वे भी आत्मा में ही निवास करते हैं।

मम्मट आदि रस-ध्वनिवादी भी गुणों को चित्त की द्रुति, दीप्ति तथा व्याप्ति (समर्पकत्व) रूप मानते हुए इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं— और इसी कारण वे गुणों की संख्या दश न मान कर केवल तीन मानते हैं। दास का भी यही मत है : प्राचीन आचार्यों के अनुसार दश गुणों का वर्णन करने के उपरान्त वे मूल गुणों की संख्या केवल तीन मानते हैं।

दश गुणों के वर्गीकरण में दास ने फिर परम्परा से भिन्न मार्ग का अवलम्बन किया है। उन्होंने गुणों के चार वर्ग किये हैं : (१) अक्षर-गुण—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद (२) दोषाभाव-रूप गुण—समता, कान्ति और उदारता (३) अर्थ-गुण—अर्थव्यक्ति और समाधि (४) वाक्य-गुण—श्लेष तथा पुनरुक्तिप्रकाश।

अक्षर गुण माधुर्य अरु, ओज प्रसाद विचारि ।
समता कान्ति उदारता, दूषन-हरन निहारि ॥
अर्थव्यक्ति समाधिये अर्थहि करै प्रकास ।
वाक्यन के गुण श्लेष अरु, पुनरुक्ती-परकास ॥

यहां पहली बात तो यही विचारणीय है कि दास ने पुनरुक्तिप्रकाश नामक एक नये गुण की कल्पना की है और वामनादि के सौकुमार्य गुण को छोड़ दिया है।

एक शब्द बहु बार जहँ, परै रुचिरता अर्थ ।
पुनरुक्तीपरकाश गुन, बरनै बुद्धि समर्थ ॥

दास ने सौकुमार्य के स्थान पर इस नवीन गुण की कल्पना क्यों की यह कहना कठिन है, फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि सौकुमार्य की

कदाचित् वे माधुर्य से पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं कर सके, अतएव उसे छोड़ कर उन्होंने एक अन्य प्रकार के पदरचना-चमत्कार को जिसका ब्रजभाषा में यथेष्ट प्रचार था, दशगुणों में समाविष्ट कर लिया। वामन ने शब्द-गुण सौकुमार्य का अर्थ किया है शब्द-गत अपारुष्य—इस दृष्टि से पुनरुक्तिप्रकाश की रुचिर पदावृत्ति को सौकुमार्य का एक साधन भी माना जा सकता है। सौकुमार्य का यह रूप अन्य रूपों की अपेक्षा अधिक विशिष्ट था, अतएव दास ने कदाचित् इसका स्वतन्त्र अस्तित्व मानना प्रचलित काव्य-भाषा के अधिक स्वरूपानुकूल समझा।

शेष नौ गुणों में से माधुर्य, ओज, प्रसाद, श्लेष, कान्ति, और अर्थ-व्यक्ति के लक्षण तो दास ने प्रायः दण्डी अथवा वामन के अनुसार ही दिये हैं—परन्तु समता, औदार्य और समाधि में परम्परा से वैचित्र्य है।

समता— प्राचीनन की रीतिसों, भिन्न रीति ठहराइ।

समता गुन ताको कहैं, पै दूषनन्ह वराइ ॥

अर्थात् दास के अनुसार समता गुण वहां होता है जहां परिपाटी-भुक्त रीति का परित्याग कर नवीन रीति का अवलम्बन किया जाये—किन्तु परिपाटी से मुक्ति दुष्ट प्रयोगों की छूट नहीं देती। यह लक्षण कुछ-कुछ वामन के अर्थ-गुण माधुर्य से मिलता है। दण्डी और वामन के अनुसार समता का अर्थ है रीति का अवैषम्य।

उदारता—

जो अन्वय बल पठित हवै, समुक्ति परै चतुरैन।

ओरन को लागे कठिन, गन उदारता ऐन ॥

अर्थात् जहाँ अन्वय बल-पूर्वक लगाया जा सके—जो केवल विदग्ध जन की ही समझ में आये और दूसरों को कठिन प्रतीत हो वहाँ उदारता गुण होता है। प्रस्तुत लक्षण दास ने कहां से लिया है यह कहना कठिन है। भरत, दण्डी, तथा वामनादि किसी ने भी इसका संकेत नहीं किया।

तीसरा गुण समाधि है जिसमें दास ने कुछ वैचित्र्य प्रदर्शित किया है। जहां रुचिर क्रम से आरोह-अवरोह हो वहां समाधि गुण होता है :

जुहै रोह-अवरोह गति रुचिर भाँति क्रम पाय।

इसके आगे दास ने समाधि का जो उदाहरण दिया है वह बहुत कुछ सार अलंकार से मिल जाता है। वामन ने भी क्रमिक आरोह-अवरोह को समाधि का लक्षण माना है, परन्तु वह आरोह-अवरोह अक्षर-गुम्फ का है, अर्थ का नहीं। अतएव यह वैचित्र्य बहुत कुछ भ्रान्ति-जन्य है।

दास का गुण-वर्गीकरण अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है। माधुर्य, ओज और प्रसाद को अक्षरगुण मानने का कारण यह है कि मम्मट आदि परवर्ती आचार्यों ने तत्त्वरूप में गुण को रस का धर्म मानते हुए भी उसको वर्ण के आश्रित भी प्रकारान्तर से माना ही है—और पण्डितराज जगन्नाथ ने तो स्पष्ट ही यह मान लिया है कि गुण वर्ण के भी आश्रित हैं। वास्तव में गुण की स्थिति थोड़ी अस्पष्ट-सी रही है। सिद्धान्त में गुण के रस-धर्मत्व की चर्चा करते हुए व्यवहार में प्रायः सभी आचार्य वर्णों के आश्रय से ही उसका स्वरूप-निरूपण करते रहे हैं। दास ने इसीलिए गुणों के मूर्त आधार को प्रमाण मानते हुए माधुर्य, ओज, प्रसाद को वर्ण-गुण मान लिया। इसी प्रकार श्लेष और पुनरुक्तिप्रकाश को वाक्य-गुण मानने में भी मूर्त-आधार को ही प्रमाण रूप में स्वीकार किया गया है, क्योंकि ये गुण वाक्य में ही सम्भव हैं—पृथक् पदों में अथवा वर्ण-योजना में इनकी स्थिति सम्भव नहीं है। अर्थ-व्यक्ति और समाधि को दास ने अर्थ-गुण माना है—पहले में अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति और दूसरे में अर्थ का क्रमिक आरोह-अवरोह होने के कारण। कांति, समता और उदारता को दास ने दूषण-हरण माना है—अर्थात् ये गुण दोषों का सम्मार्जन करते हुए काव्य का उत्कर्ष करते हैं। मम्मट ने काव्य-प्रकाश में जहाँ दश गुणों का माधुर्य, ओज, प्रसाद में अन्तर्भाव सिद्ध किया है, वहाँ कान्ति (शब्द-गुण), समता (अर्थ-गुण) तथा उदारता (अर्थ-गुण) को क्रमशः अग्राम्यत्व, प्रक्रमभंग और अग्राम्यत्व दोष का अभाव मात्र माना है। इस प्रकार मम्मटादि के अनुसार उपर्युक्त तीनों गुण किसी न किसी रूप में दोषाभाव—दास के शब्दों में दूषण-हरण—माने जा सकते हैं। परन्तु दास-कृत समता तथा उदारता के लक्षण तो वामन के लक्षणों से भिन्न हैं—उनका समता गुण परिपाटीभुक्त रीति के परित्याग तथा नवीन रीति के अवलम्बन में सन्निहित रहता है, और उदारता में पद-रचना इस प्रकार की जाती है कि विदग्ध जन ही उसे समझ सकते हैं, अन्य अर्थात् जन-साधारण की बुद्धि वहाँ तक नहीं पहुँच सकती। ये लक्षण यद्यपि वामन के लक्षणों से भिन्न हैं तथापि

इन रूपों में भी उपर्युक्त दोनों गुण दोषाभाव हो सकते हैं। समता गुण की परिभाषा बहुत कुछ वामन के अर्थ-गुण माधुर्य से मिल जाती है, और इस प्रकार वह अनवीकृत दोष का अभाव रूप हो जाता है, इसी तरह उदारता के लक्षण की भी ध्वनि यही है कि उसकी अभिव्यंजना में वैदग्ध्य रहता है, सस्तापन नहीं होता : 'सस्तेपन' को ही ग्राम्यत्व भी कहा जा सकता है। अतएव प्रकारान्तर से दास के लक्षण को वामन के लक्षण से सम्बद्ध करते हुए इसको भी ग्राम्यत्व दोष का अभाव रूप मानना असंगत नहीं होगा। निष्कर्ष यह है कि लक्षण-भेद होते हुए भी दास के ये तीन गुण दूषण-हरण माने जा सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से दास के गुण-वर्गीकरण के विषय में कुछ संकेत मिल जाते हैं। हमारा अनुमान है कि दास के दो वर्ग (१) अक्षर गुण और (२) दूषण-हरण तो मम्मट के गुण-विवेचन पर आश्रित हैं। दूषण-हरण अर्थात् दोषाभाव वर्ग के लिए एक और संकेत दास को कदाचित् ध्वनिवादियों की इस स्थापना से भी प्राप्त हुआ हो : 'महान् निर्दोषता गुणः।'

अर्थ-गुण का आधार दण्डी और विशेष रूप से वामन का गुण-विवेचन है, और वाक्य-गुण वर्ग की उद्भावना दास ने स्वतन्त्र रीति से कर ली है। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि उपर्युक्त चारों वर्गों की कल्पना के पीछे दोष-वर्गीकरण की प्रेरणा रही हो क्योंकि दोषों का वर्गीकरण भी तो कुछ अंशों में अक्षर-योजना, अर्थ, वाक्य आदि के आधार पर हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सभी वर्ग विशेष तात्त्विक नहीं हैं—इनका आधार प्रायः बाह्य रचना ही है। स्वयं दास ने आगे चलकर प्रकारान्तर से इस तथ्य को अपनी एक अन्य स्थापना में स्वीकार किया है :

रस के भूपित करन ते, गुन बरने सुख दानि ।

गुन भूपन अनुमानि कै, अनुप्रास उर आनि ॥

अर्थात् उपर्युक्त गुण तभी तक गुण हैं जब तक वे रस का उत्कर्ष करते हैं। जहां वे ऐसा नहीं कर पाते वहां वे अनुप्रास मात्र रह जाते हैं। इस स्थापना से दास मानों उपर्युक्त वर्गीकरण का निषेध कर देते हैं क्योंकि यदि गुण का रस के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है, तो उनका वर्गीकरण रस के आधार पर ही होना चाहिए, रचना के बाह्य तत्वों—अक्षर-बन्ध, वाक्य आदि के आधार पर

नहीं। यदि गुण रस का उत्कर्ष करने पर ही अपनी गुणता सिद्ध करते हैं तो माधुर्य, ओज और प्रसाद को अक्षर-गुण कहना उनकी गुणता का निषेध करना है : वैसी दशा में तो वे अनुप्रास मात्र ही रह जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गुण की वास्तविक स्थिति की समस्या दास के सामने भी आती है, और उनकी व्यावहारिक दृष्टि ने उसे अपने ढंग से हल करने का प्रयत्न किया है। तत्त्व दृष्टि से तो उन्होंने गुण का रस के साथ ही नित्य सम्बन्ध माना है, परन्तु व्यावहारिक रूप में उनके बाह्य स्वरूप को स्पष्ट करने का जहाँ प्रश्न आया है, वहाँ उन्होंने मूर्त आधार को ही प्रमाण मानकर गुणों का वर्णन तथा वर्गीकरण आदि कर दिया है। संस्कृत के भी अनेक आचार्यों ने इस समस्या को कुछ इसी प्रकार से सुलझाने का प्रयत्न किया है, परन्तु दास का वर्णन आवश्यकता से अधिक निश्चयात्मक हो गया है। उससे कहीं गुण की मौलिक स्थिति के विषय में भ्रम उत्पन्न न हो जाए, इसलिए आगे चलकर दास को उतने ही निश्चयात्मक शब्दों में एक अन्य स्थापना करने की आवश्यकता पड़ी है। यह स्थापना परम्परा^१ से भिन्न होते हुए भी सत्य से दूर नहीं है क्योंकि रस से हीन वर्णयोजना अनुप्रास के अतिरिक्त और क्या है ? इस प्रकार दास के गुण-विवेचन में अंतर्विरोध नहीं है—वास्तव में गुण की स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हुए वे भी उसी भँवर में पड़ गये हैं जिसमें कि संस्कृत के अधिकांश आचार्य फँस गये थे। सामान्यतः गुण, गुण और रस का सम्बन्ध, तथा काव्य में गुण का स्थान, आदि मूल विषयों के सम्बन्ध में उनका सिद्धान्त अपने आप में स्पष्ट है। एतद्विषयक सिद्धान्तों का सार दास ने इस प्रकार दिया है :

ज्यों जीवात्मा में रहै, धर्म सूरता आदि ।
 त्यों रस ही में होत गुन, वरनै गनै सवादि ।
 रस ही के उत्कर्ष को, अचल स्थिति गुन होय ।
 अंगी धरम सुरूपता, अंग धरम नहिं कोय ।
 कहूँ लखि लघु कादर कहै, सूर बड़ो लखि अंग ।
 रसहि लाज त्यों गुन बिना, अरि सो सुभग न संग ॥

१ और परम्परा से भी यह बहुत भिन्न नहीं है प्राचीन आचार्यों ने—भामह, उद्भट आदि ने—वृत्तियों को तो अनुप्रासजानि माना ही है।

अर्थात् जिस प्रकार शौर्यादि आत्मा के धर्म हैं उसी प्रकार गुण रस के धर्म हैं। गुणों का कार्य है रस का उत्कर्ष करना, अतएव वे रस के ही अचल-स्थिति धर्म हैं शब्द-अर्थ के धर्म नहीं हैं, क्यों कि सौन्दर्य आदि अन्ततः अंगी आत्मा के ही गुण ठहरते हैं अंगभूत शरीर के नहीं। कहीं कहीं व्यवहार में लघुकाय व्यक्ति को कायर और महाकाय को शूर कह देते हैं, परन्तु वह केवल व्यावहारिक प्रयोग है, तात्त्विक नहीं। इसी प्रकार शब्द-अर्थ के साथ गुणों का सम्बन्ध तात्त्विक नहीं है, उपचार रूप में ही है। इसके विपरीत उपमा, अनुप्रास आदि शब्दार्थालंकार काव्य के बाह्य अलंकार हैं, जिस प्रकार हार आदि आभूषण प्रथमतः शरीर को अलंकृत करते हैं, इसी प्रकार उपमादि अलंकार शब्द-अर्थ के ही धर्म हैं—वे पहले शब्द-अर्थ का ही उत्कर्ष करते हैं। अतएव अलंकार की स्थिति रस के बिना और रस की स्थिति अलंकार के बिना भी सम्भव है:

अलंकार विनु रसहु है, रसहु अलंकृत छंडि ।

परन्तु गुण की सत्ता रस के लिए अनिवार्य है—गुण के अभाव में रस का परिपाक नहीं हो सकता:—‘रसहि लाज त्यों गुन बिना ।’

इसके उपरांत उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का वर्णन है। मम्मट के अनुकरण पर दास ने भी वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीतियों का वर्णन न कर उपनागरिका आदि वृत्तियों का ही वर्णन किया है। दास का यह वृत्ति-विवेचन भी उद्भट आदि प्राचीन आचार्यों से थोड़ा भिन्न पूर्णतया मम्मट के विवेचन पर आश्रित है। उन्होंने भी उपनागरिका में माधुर्य-व्यंजक वणों की, परुषा में ओजोव्यंजक वणों की और कोमला में प्रसादव्यंजक वणों की स्थिति मानी है :

मिले वरन माधुर्य के, उपनागरिका नित्ति ।

परुषा ओज, प्रसाद के मिले कोमला वृत्ति ।,

(काव्यनिर्णय पृ० ११६)

अन्य रीतिकार

दास के उपरांत उत्तर-रीति काल के कवियों ने इस प्रसंग के विवेचन में कोई विशेष योग नहीं दिया। रूपसाहि ने चार नाट्य वृत्तियों का वर्णन किया

है जो प्रायः केशव के आधार पर है। केवल एक ही ग्रन्थ ऐसा है जिसका उल्लेख करना यहां आवश्यक है—और वह है जगतसिंह का साहित्य-सुधानिधि (संवत् १८८५ वि०)। इस ग्रन्थ की नवीं तरंग में रीति-वर्णन है।

पंच, षष्ट, नग-वसु करि जहाँ समास ।
पांचाली, लाटी, क्रम गौड़ी भास ॥
विन समास जहँ कीजै पद-निर्वाह ।
वैदर्भी सो जानो कविन सराह ॥

अर्थात् जहां पाँच, छः, सात-आठ समासों का प्रयोग हो वहां क्रमशः पांचाली, लाटी और गौड़ी रीति होती है। और स्पष्ट शब्दों में पांचाली में पांच समास, लाटीया में छः और गौड़ीया में सात-आठ समास होते हैं। वैदर्भी में सर्वथा असमस्त पद-रचना होती है। यह रीति-वर्णन मान्य परम्परा से थोड़ा-सा भिन्न रुद्रट से प्रेरित है। संस्कृत में केवल समास-संख्या के आधार पर रुद्रट ने रीति-विभाजन किया है :

द्वित्रिपदा पांचाली लाटीया पंच-सप्त वा यावत् ।

शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौड़ीया ॥

(रुद्रट-काव्यालंकार २।४-५)

इस प्रकार रुद्रट और जगतसिंह के रीति-वर्णन में केवल संख्या का भेद है। रुद्रट पांचाली में दो-तीन समासों की स्थिति मानते हैं परन्तु जगतसिंह पाँच की, लाटीया में रुद्रट के अनुसार पांच-सात समास होते हैं किन्तु जगतसिंह के अनुसार छः, गौड़ीया में रुद्रट के अनुसार यथाशक्ति समस्त पदों का ही प्रयोग रहता है, पर जगतसिंह ने उसके लिए भी सात-आठ समासों की संख्या निश्चित कर दी है। यह अन्तर विशेष महत्वपूर्ण नहीं है और न इसका कोई उचित आधार ही समझ में आता है। समास संख्या के आधार पर रीति-भेद करना भी बहुत न्याय्य नहीं है—संस्कृत में स्वयं रुद्रट की भी आलोचना हुई है। फिर लघुसमासा पांचाली में दो-तीन के स्थान पर पाँच-सात समास मानने में तो और भी कोई तुक नहीं दिखाई देती। मध्यमसमासा लाटीया में रुद्रट और जगतसिंह के वर्णन में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं है—रुद्रट पाँच-सात समास मानते हैं, जगतसिंह छः। गौड़ीया में जगतसिंह ने कदाचित् जानबूझ कर अंतर किया है क्योंकि संस्कृत में तो 'यथाशक्ति समस्तपदों का ही प्रयोग'

सम्भव हो सकता है। किन्तु हिन्दी की प्रकृति इसे सहन नहीं कर सकती, अतएव जगतसिंह को यहां भी समास-संख्या निश्चित करनी पड़ी है। वैदर्भी के विषय में रुद्रट और जगतसिंह एकमत हैं—उसमें समास का अभाव रहता है। वैदर्भी की कवि-समाज में बड़ी प्रशंसा है—जगतसिंह का यह कथन सर्वथा सत्य ही है। संस्कृत में श्रीहर्ष, पद्मगुप्त, ब्रिह्मण; नीलकंठ आदि कवियों ने इसका कीर्तन किया है; दण्डी तथा कालिदास जैसे कलाकारों ने इसका मनोयोग-पूर्वक व्यवहार किया है और वामन, राजशेखर, भोजराज प्रभृति आचार्यों ने इसे मूर्धन्य पर स्थान दिया है।

यह स्पष्ट ही है कि जगतसिंह के रीतिवर्णन में कोई मौलिकता नहीं है—उनका आधार रुद्रट का काव्यलंकार है। परन्तु हिन्दी में वैदर्भी, गौड़ी आदि रीतियों का वर्णन इतना विरल है कि जगतसिंह का इस प्रसंग में आभार मानना ही होगा। हिन्दी में वर्ण-वृत्तियों का वर्णन मम्मट के अनुसरण पर कई आचार्यों ने किया है, नाट्य वृत्तियों का भी वर्णन हुआ है, किन्तु वामनीया रीति का वर्णन प्रायः दुर्लभ ही रहा है। जगतसिंह के उपरान्त रीतिकाल के चौथे चरण में—अर्थात् उन्नीसवीं विक्रम शती के उत्तरार्ध में महाराज रामसिंह, पद्माकर, प्रतापसाहि आदि प्रमुख कवि-आचार्य हुए, किंतु इनमें से प्रायः किसी ने भी रीति के प्रसंग को नहीं उठाया।

काल-विभाजन की दृष्टि से तो रीतियुग संवत् १६०० के आसपास समाप्त हो जाता है, किन्तु रीति-परम्परा बीसवीं शताब्दी में भी लुप्त नहीं हुई और 'आधुनिक युग' में भी अनेक उच्छकोटि के रीतिग्रन्थों की रचना हुई : ग्वाल कवि का रस-रंग, लछिराम का रावणेश्वर-कल्पतरु, कविराज मुरारिदान का जसवंत-भूषण तथा अयोध्या-नरेश महाराजा प्रतापनारायणसिंह का रस-कुसुमाकर आदि इसी परम्परा के महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—किन्तु रीति-गुण का वर्णन इनमें से जसवंत-भूषण जैसे एकाध ग्रन्थ में ही है, और यह भी अत्यन्त संक्षिप्त है।

आधुनिक रीतिकार

वर्तमान युग में काव्य-शास्त्र की दिशा बदल गई है, आज के हिन्दी काव्यशास्त्र पर यूरोप के आलोचना-सिद्धान्तों तथा मनोविज्ञान का गहरा

प्रभाव है—रीतिशास्त्र की अपेक्षा आज काव्यशास्त्र पर अधिक बल है। फिर भी हिन्दी की प्राचीन रीति-परम्परा सर्वथा निश्शेष नहीं हुई : सेठ कन्हैयालाल पोद्दार की रस-मंजरी, तथा अलंकार-मंजरी, अर्जुनदास केडिया का भारती-भूषण, मिश्रबन्धुओं का साहित्य-पारिजात और हरिऔध का रसकलस आदि प्राचीन परिपाटी के मान्य ग्रन्थ हैं। इनमें से रसकलस रस और नायिकाभेद का ग्रन्थ है। शेष सभी में रीति-गुण-वृत्ति का थोड़ा बहुत विवेचन किया गया है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के विवेचन का आधार मम्मट का काव्यप्रकाश है। उन्होंने यों तो अन्य आचार्यों के मतों का भी यत्र-तत्र उल्लेख किया है, किन्तु प्रमाण माना है मम्मट को ही : इस प्रकार इस ग्रन्थ में मौलिकता का सर्वथा अभाव है—इसका प्रमुख गुण इसकी स्पष्टता है। मम्मट के अनुसार पोद्दार जी ने भी रीति का वर्णन न कर केवल वृत्ति का ही वर्णन शब्दालंकार प्रसंग में अनुप्रास के अन्तर्गत किया है। उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का यह वर्णन मम्मट के वृत्ति-वर्णन का अनुवाद मात्र है—पोद्दार जी ने केवल स्पष्ट हिन्दी गद्य में उसका रूपान्तर कर दिया है। गुण का विवेचन रसमंजरी के षष्ठ स्तबक में किया गया है। इस स्तबक में गुण का लक्षण और स्वरूप, गुण-अलंकार का भेद, गुणों की सख्या तथा माधुर्य-ओज-प्रसाद का वर्णन है। अन्त में रचना अथवा रीति का भी अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेख है। यह सब भी पूर्णतया मम्मट पर ही आश्रित है : गुण-लक्षण मम्मट के लक्षण का अनुवाद है, दस गुणों में से तीन गुणों की स्वीकृति भी मम्मट के ही अनुसार है, इन तीन गुणों के लक्षण आदि मम्मट से ही अनूदित हैं, और गुण तथा अलंकार के भेद-प्रदर्शन में भी^१ काव्य-प्रकाश के सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है :—“गुण रस के धर्म हैं, क्योंकि गुण के साथ नित्य रहते हैं। अलंकार रस का साथ छोड़ कर नीरस काव्य में भी रहते हैं। गुण रस का सदैव उपकार करते हैं, पर अलंकार रस के साथ रह कर कभी उपकारक होते हैं और कभी नहीं।” सेठ पोद्दार ने गुण को दोष का अभाव माना है—भरत मुनि का भी यही मत है, परन्तु वामन आदि आचार्यों ने इसका निराकरण किया है क्योंकि गुण भावात्मक विशेषताएं हैं अभावात्मक नहीं, निर्दोषता भी अपने आप में एक गुण है, परन्तु वह उपचार से है—वास्तविक गुण की स्थिति भावात्मक ही होनी चाहिये। इसी स्तबक के अन्त में रीतियों का भी उल्लेख है। रीति का ही नाम रचना है।^२

१ रसमंजरी षष्ठ स्तबक पृ० ३८३

२ रसमंजरी षष्ठ स्तबक पृ० ३८४।

“वैदर्भी, गौणी ? (गौड़ी) और पांचाली रीतियों को रचना कहते हैं, ये रीतियां गुणों के आश्रित हैं। गुण रस के धर्म और नित्य सहचारी हैं, इसलिए वर्ण और रचना में गुण और रस की व्यंजना एक ही साथ होती हैं।’ + + + इन रीतियों को श्री मम्मट ने उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्ति के नाम से लिखा है और माधुर्य-गुण-व्यंजक वर्णों की रचना को उपनागरिका, ओजगुण-व्यंजक वर्णों की रचना को परुषा और इन दोनों में प्रयुक्त वर्णों से अतिरिक्त वर्णों की रचना को कोमला वृत्ति बतलाया है।” — सेठजी मम्मट के आधार पर ध्वनिवादी हैं — उन्होंने रीति को रचना-ध्वनि या वर्ण-ध्वनि के अन्तर्गत ही माना है।

श्री अर्जुनदास केडिया के भारतीभूषण में भी वृत्तियों का वर्णन शब्दालंकार के अनुप्रास प्रसंग में ही मिलता है। उनके वर्णन में एक साधारण-सो नवीनता यह है कि उन्होंने वृत्ति के लिये स्वरों का भी आधार माना है — ह्रस्व स्वर उपनागरिका के और दीर्घ स्वर परुषा के लिए उपयुक्त हैं। उपर्युक्त क्रम मिश्रबन्धुओं के साहित्य-पारिजात में भी रखा गया है : वहां भी वृत्तियों का वर्णन अनुप्रास के ही अंतर्गत हुआ है : ‘इसके (वृत्ति के) तीन भेदान्तर हैं, अर्थात् उपनागरिका या वैदर्भी, परुषा या गौणी ? (गौड़ी) और कोमला या पांचाली। + + + उपनागरिका में चित्त-द्रावक वर्णों में रचना रहती है। इसमें माधुर्य गुण के व्यंजक वर्ण आते हैं।’ ‘परुषा या गौणी (?) में ओज के प्रकाशक वर्णों की अधिकता होती है।’ ‘कोमला या पांचाली में प्रसाद-व्यंजक रचना लानी चाहिये।’ मिश्रबन्धुओं के विवेचन में दो विशेषताएं हैं : एक तो उसका आधार प्रत्यक्षतः मम्मट का काव्यप्रकाश न होकर उससे प्रभावित दास का काव्यनिर्णय है। दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने सर्वत्र संस्कृत का ही आश्रय नहीं लिया है — यथास्थान हिन्दी की प्रकृति को भी प्रमाण माना है। उदाहरण के लिए माधुर्य-गुण-व्यंजक वर्णों का विश्लेषण उन्होंने हिन्दी की प्रवृत्ति के ही अनुसार किया है : ‘संस्कृत में ए माधुर्य-व्यंजक वर्ण है, किन्तु ब्रजभाषा में नहीं। खड़ी बोली में इसका प्रयोग काफ़ी है।’ मिश्रबन्धुओं की यह विशेषता तो वास्तव में स्तुत्य है, परन्तु शास्त्र की दृष्टि से उनके विवेचन में पोद्दार जी के विवेचन की प्रामाणिकता एवं स्थिरता नहीं है।

रीतिपरम्परा के इन आधुनिक ग्रन्थों में सबसे अधिक उपादेय है पं० रामदहिन मिश्र का ग्रन्थ 'काव्यदर्पण'। वे केवल काव्यप्रकाश पर आश्रित नहीं रहे—संस्कृत अलंकार-शास्त्र के प्रायः सभी प्रमुख ग्रन्थों का आधार ग्रहण करते हुए और इधर साहित्य की नवीन गतिविधि का भी ध्यान रखते हुए उन्होंने अपने विवेचन को अत्यन्त उपयोगी बना दिया है। काव्यदर्पण में गुण, रीति तथा वृत्ति तीनों का संचित तथा स्पष्ट विवेचन मिलता है। उनके रीति-विवेचन के आधार वामन का काव्यालंकारसूत्र तथा विश्वनाथ का साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थ हैं। वामन के अनुसार मिश्र जी ने तीन रीतियाँ ही मानी है—वैदर्भी, गौड़ो और पांचाली। किन्तु अन्त में रुद्रट तथा विश्वनाथ की लाटी रीति का भी संक्षेप में वर्णन कर दिया है।

उनके गुण-विवेचन का आधार भी व्यापक है—भरत, भोज, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि के मत देकर अन्त में उन्होंने प्रायः मम्मट का अनुसरण किया है। तीन गुणों का वर्णन मम्मट के आधार पर ही किया गया है। किन्तु मम्मट द्वारा स्वीकृत तीन गुणों में ही वे गुण की इति श्री नहीं मान लेते : 'आजकल ऐसी अधिकांश रचनाएँ दीख पड़ती हैं जिनमें न तो प्रसाद गुण और न ओज गुण, बल्कि इनके विपरीत उनके अनेक स्वरूप दीख पड़ते हैं। + + + उपर्युक्त दस गुणों में इनका अन्तर्भाव हो सकता है।' मिश्र जी की विशेषता यह है—और रीतिकार के लिए यह अत्यन्त आवश्यक भी है—कि उनका शास्त्र-विवेचन केवल संस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रन्थों पर ही आश्रित नहीं रहा, आधुनिक हिन्दी काव्य को भी उन्होंने आधार माना है। वर्तमान कवियों की प्रसिद्ध रचनाओं को उद्धृत कर उन्होंने अपने निरूपण को तो अधिक ग्राह्य बना ही दिया है, साथ ही हिन्दी रीतिग्रन्थों की उस त्रुटि का भी परिहार किया है जिसे केशव से लेकर सेठ कन्हैयालाल पोद्दार तक हमारे सभी रीतिकार बराबर करते चले आये हैं। निम्नलिखित वक्तव्य में उनके रीति-गुण-विषयक दृष्टिकोण का सार निहित है :

‘गुण तथा रीति का विचार हिन्दी की आधुनिक रचनाओं के विचार से होना चाहिए। संस्कृत की ये रूढ़ियाँ नियमतः नहीं, सामान्यतः लागू हो सकती हैं। + + + व्यक्ति-विशेष की शैली श्रेणी-विभाग का एक विशिष्ट उपादान होगी। तथापि गुण-रीति का ज्ञान काव्य-कला के अंतरंग में पैठने का द्वार है, इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।’^१

१ काव्यदर्पण पृ० ३१५।

२ वही पृ० ३१६।

गुणों तथा वृत्तियों का विवेचन मम्मट के आधार पर किया गया है। मिश्रजी ने भी केवल तीन ही गुणों की सत्ता स्वीकार की है—शेष का उन्हीं में अन्तर्भाव माना है। वृत्तियों का वर्णन वृत्त्यनुप्रास के अन्तर्गत हुआ है—इन्होंने भी प्रदीप के आधार पर माधुर्य का सम्बन्ध उपनागरिकता से, ओज का गौड़ी से, और कोमला का प्रसाद से माना है।

हिन्दी काव्यशास्त्र की दूसरी प्रवृत्ति का सम्बन्ध है आधुनिक आलोचना-पद्धति से जिसका आधार पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा मनोविज्ञान है। स्वभावतः यह दूसरी प्रवृत्ति ही आज अधिक समर्थ है। इसके अन्तर्गत पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास तथा श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु आदि का महत्वपूर्ण स्थान है। रोति अर्थात् काव्य-भाषा-शैली के विषय में इन विद्वानों ने भी विचार व्यक्त किए हैं जिनका अपना विशेष मूल्य है।

आधुनिक आलोचक

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के सामने काव्य-भाषा और गद्य-भाषा का प्रश्न एक नवीन रूप में उपस्थित हुआ। उस समय काव्य की भाषा ब्रजभाषा थी, और गद्य की भाषा खड़ी बोली। द्विवेदी जी ने वर्ड्सवर्थ के सिद्धान्त के आधार पर व्यावहारिक रूप से इस अंतर को मिटाने का प्रयत्न किया। “मतलब यह कि भाषा बोलचाल की हो क्योंकि कविता की भाषा से बोलचाल की भाषा जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है, उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। + + इसी तरह कवि को मुहावरे का भी ख्याल रखना चाहिए + + हिन्दी उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गये हैं, वे यदि बोलचाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता।” (रसज्ञ-रंजन पृ० ४६-४७)। कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्ड्सवर्थ के प्रयत्न के समान ही यह प्रयत्न भी विफल ही रहा। इससे यह लाभ तो हुआ कि खड़ी बोली को काव्य-भाषा रूप में स्वीकृति मिल गई—किन्तु बोलचाल की गद्य से अभिन्न भाषा काव्य-भाषा नहीं बन सकी। द्विवेदीजी की कविता तो गद्यमयी हो गई—किन्तु गद्य-भाषा काव्य की भाषा न बन सकी। द्विवेदी जी ने उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार भाषा के गुणों की अपेक्षा उसकी शुद्धता आदि पर अधिक बल दिया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य शुक्ल रसवाद के प्रबल समर्थक थे। उनका दृढ़ मत था कि शैली के समस्त उपकरणों—रीति, अलंकार आदि का चमत्कार अर्थ के चमत्कार—रस पर आश्रित रहता है। उन्होंने अनेक स्थानों पर अनेक प्रकार से इस तथ्य की उद्धोषणा की है : “अनूठी से अनूठी उक्ति काव्य तभी हो सकती है जब कि उसका सम्बन्ध, कुछ दूर का ही सही, हृदय के किसी भाव या वृत्ति से होगा।”^१

“किसी भाव या मार्मिक भावना से असम्पृक्त अलंकार चमत्कार या तमाशे हैं”^२ इस प्रकार वे रीतिवाद अलंकारवाद तथा वक्रोक्तिवाद सभी के तत्त्व रूप में घोर विरोधी हैं। किन्तु उनका विरोध रीतिवाद आदि से है—रीति, अलंकार तथा वक्रोक्ति को वे काव्य की आत्मा तो मानने के लिए तैयार नहीं हैं—फिर भी, इनसे उनका विरोध नहीं है। रस के आश्रित रह कर इनकी अपनी सार्थकता है, वे तो यहां तक मानते हैं कि उक्ति ही काव्य होती है : ‘+ + + हमारे यहां भी व्यंजक वाक्य ही काव्य माना जाता है’^३।

काव्य-भाषा के विषय में उन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है—अर्थात् बाह्य रूपों का वर्णन न कर, उसके अन्तर्गतों का विश्लेषण किया है। काव्य-भाषा या रीति के उन्होंने चार मूलतत्त्व माने हैं। १. गोचर रूप-विधान करने वाले शब्द, २. विशेष रूप-व्यापार-सूचक शब्द, ३. वर्ण-विन्यास अर्थात् श्रुतिकटु वर्णों का त्याग, लय, अंत्यनुप्रास आदि शब्द-सौष्ठव के संगीतमय उपकरण, ४. साभिप्राय विशेषण। इनमें से पहला तत्त्व—‘गोचर रूप-विधान करने वाली शब्दावली’ लक्षणा पर आश्रित रहती है। रीतिवादियों की शब्दावली में यह दण्डी का समाधि गुण है : जहां एक वस्तु के धर्म का दूसरी वस्तु पर सम्यक् आधान या उपचार हो, वहां समाधि गुण होता है—जैसे कुमुद नेत्र बन्द करते हैं, कमल नेत्र खोलते हैं। दण्डी ने इसे काव्य-सर्वस्व माना है।

‘तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः।’^४

दूसरा तथा चौथा तत्त्व—विशेष रूप-व्यापार-सूचक शब्द-प्रयोग और साभिप्राय विशेषण-प्रयोग वामन के अर्थ-गुण ओज के अन्तर्गत अर्थ-प्रौढ़ि के रूप-

१ काव्य में रहस्यवाद। २ कविता क्या है? ३ वही ४ काव्यादर्श १८८३, ११००

भेद माने गये हैं। अर्थ-प्रौढ़ि में कभी विशेष को उभारने के लिए व्यास और समास पद्धतियों का ग्रहण किया जाता है, और कभी साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग होता है। नाद-सौष्ठव के संगीतमय उपकरणों का अंतर्भाव शब्द-गुण माधुर्य, उदारता, कान्ति आदि में हो जाता है। इस प्रकार शुक्लजी के शैली-तत्त्व रीतिवादियों के रीति-तत्त्वों से भिन्न नहीं है—यद्यपि उनका दृष्टिकोण सर्वथा विपरीत रहा है।

आधुनिक ढंग के काव्यशास्त्र-ग्रन्थों में डाक्टर श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' प्रो० गुलाबराय के दो ग्रन्थ 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' और श्री० सुधांशु के दो ग्रन्थ 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' तथा 'काव्य में अभिव्यंजनावान्त' का विशेष महत्व है। इन ग्रन्थों में प्राच्य और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का समन्वय किया गया है। इस प्रकार ये 'काव्यकल्पद्रुम' आदि की परम्परा से भिन्न हैं।

डा० श्यामसुन्दर दास

डा० श्यामसुन्दर दास के रीति या शैली विषयक सिद्धान्तों का सारांश इस प्रकार है :

(१) काव्य में बुद्धि-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व और भाव तत्त्व के अतिरिक्त एक चौथा तत्व भी है—शैली।

(२) शैली का अर्थ है रूप-सौन्दर्य, रूप-चमत्कार अथवा रचना-चमत्कार। बाह्य दृष्टि से किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट, और उनकी ध्वनि का नाम शैली है।

(३) शैली को विचारों का परिधान न कह कर उनका बाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना बहुत कुछ संगत होगा। अथवा उसे भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग कहना भी ठीक होगा।

(४) शैली के आधार तत्त्व हैं—शब्द और वाक्य। शब्द के अंतर्गत शक्ति, गुण और वृत्ति का विधान है, और वाक्य के अन्तर्गत रचना का समावेश है।

(५) गुण, रीति, वृत्ति के विषय में डा० श्यामसुन्दर दास की धारणा है : "माधुर्य गुण के लिए मधुरावृत्ति और वैदर्भी रीति : ओज गुण के लिए

परूषा वृत्ति और गौड़ी रीति, तथा प्रसाद गुण के लिए प्रौढ़ा वृत्ति और पांचाली रीति आवश्यक मानी गई है ।”

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि डाक्टर श्यामसुन्दर दास रीति-वादी नहीं थे—वास्तव में रीतिवादी का समर्थन आधुनिक युग में संगत भी नहीं है । उन्होंने बुद्धि-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व तथा भाव-तत्त्व अर्थात् अर्थ को ही काव्य में प्रमुख माना है । किन्तु उनका दृष्टिकोण समन्वयात्मक है—वाणी के बिना अर्थ का क्या रूप ? अतएव शैली को काव्य का आवश्यक अंग मानने में उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की । उनके शैली या रीति के लक्षण पर पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रभाव है, परन्तु फिर भी वस्तु-दृष्टि से यह वामन के लक्षण से बहुत भिन्न नहीं है । रचना-चमत्कार या चमत्कृत रचना वामन की विशिष्टा पदरचना से भिन्न नहीं है । डा० श्यामसुन्दर दास के मत से शैली के आधार हैं—शब्द-शक्ति, गुण, वृत्ति तथा वाक्य-रचना । यह मत भी वामन के मत से प्रायः अभिन्न ही है । किन्तु इनका रीति-वृत्ति-विवेचन शास्त्रीय परम्परा से कुछ हटकर है : इन्होंने न तो वामन का ही अनुसरण किया है और न मम्मट का ही । वामन के अनुसार वेदभी समग्रगुणसम्पन्ना है—उसकी परिधि केवल माधुर्य तक ही सीमित नहीं है, और पांचाली के गुण हैं माधुर्य तथा सौकुमार्य न कि प्रसाद । इसी प्रकार मम्मट का विवेचन भी भिन्न है :—उन्होंने माधुर्य-विशिष्ट वृत्ति को उपनागरिका कहा है न कि मधुरा, और प्रसादगुण-विशिष्ट वृत्ति को प्रौढ़ा नाम से नहीं वरन् कोमला नाम से अभिहित किया है । मधुरा और प्रौढ़ा नामों का प्रयोग रुद्रट में मिलता है और डा० श्यामसुन्दर दास ने इन्हें वहीं से ग्रहण किया है । परन्तु अनुसरण इन्होंने रुद्रट का भी नहीं किया, क्यों कि रुद्रट ने मधुरा, प्रौढ़ा, परूषा, ललिता तथा भद्रा ये पाँच वृत्तियाँ मानी हैं । रुद्रट ने न तो गुणों और वृत्तियों का कोई निश्चित सम्बन्ध माना है और न वृत्तियों तथा रीतियों का, उनकी तो रीतियाँ भी गुणाश्रित नहीं हैं । फिर भी डा० श्यामसुन्दरदास ने अकारण ही यह नाम-भेद नहीं किया—इसके पीछे कदाचित् रीति-गुण-वृत्ति सम्बन्धी उस असंगति को दूर करने की भावना रही है जिसका प्रारम्भ मम्मट अथवा मम्मट के टीकाकारों द्वारा हुआ है । परन्तु डाक्टर महोदय भी पूर्णतः सफल नहीं हुए हैं—उन्होंने एक त्रुटि को दूर कर दूसरी त्रुटि का सूत्रपात कर दिया है । प्रसाद-गुण-विशिष्ट वृत्ति का नाम कोमला की अपेक्षा प्रौढ़ा निश्चय ही अधिक संगत है । प्रसाद गुण प्रौढ़ रचना का परि-

चायक है, केवल कोमल रचना का नहीं। इसी प्रकार उपनागरिका के स्थान पर माधुर्य-विशिष्ट वृत्ति को मधुरा कहना भी ठीक ही है। परन्तु एक तो प्रौढ़ा वृत्ति और पांचाली रीति को पर्याय मानना असंगत है क्यों कि, जैसा कि मैंने अभी संकेत किया है, पांचाली रीति के उद्भावक वामन ने स्पष्ट ही उसे केवल माधुर्य और सौकुमार्य से उपपन्न माना है, प्रसाद से नहीं। दूसरे वैदर्भी और मधुरा को एक मानने में फिर उसी त्रुटि की पुनरावृत्ति हो जाती है। डा० श्यामसुन्दर दास इस उल्लम्भन को सुलझा नहीं सके हैं—वरन् एक प्रकार से और भी उलझा बैठे हैं।

बाबू गुलाबराय ने 'सिद्धान्त और अध्ययन' में रीति, गुण, वृत्ति का शैली के अन्तर्गत विवेचन किया है। बाबूजी की दृष्टि व्यापक और सहज समन्वयात्मक है, साथ ही उनका पाश्चात्य मनोविज्ञान तथा काव्य-शास्त्र से घनिष्ठ परिचय है, उन्होंने भी केवल मम्मट को प्रमाण नहीं माना—भरत, भामह, दण्डी, वामन, कुंतक, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि प्रायः सभी के मतों का सारांश ग्रहण किया है और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों के प्रकाश में उन्हें प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। गुणों के विषय में मम्मट के विवेचन को उचित गौरव देते हुए भी वे यह नहीं मानते कि वामन के दश गुणों का अन्तर्भाव केवल तीन गुणों में अनिवार्यतः कर ही देना चाहिए। उनकी धारणा है—और वह ठीक भी है—कि वामन के इन गुणों से शैली की अनेक विशेषताएं प्रकाश में आती हैं। उन सभी को मान्यता देने से शैली के तत्त्वों के विश्लेषण में निश्चय ही सहायता मिलती है। गुण के प्रसंग में बाबूजी ने एक रोचक बात कही है।—

शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत्सहसैव यः ।

व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ॥

की व्याख्या करते हुए उन्होंने ने लिखा है : 'प्रसादगुण माधुर्य और ओज दोनों के साथ रह सकता है, इसलिए उसके दो उपमान अग्नि और जल दिये गये हैं। अग्नि का सम्बन्ध ओज से है, और जल का सम्बन्ध माधुर्य से।' यह बाबूजी का अपनी मौलिक सूक्त तो नहीं है—काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने इसका संकेत किया है, तथापि यह आख्यान सर्वथा सटीक तथा अपने आप में अत्यन्त रोचक है। उनके रीति, गुण आदि के विवेचन में तो कोई विशेष मौलिकता नहीं है, परन्तु शैली और रीति का तुलनात्मक अध्ययन

निश्चय ही उपयोगी है। यहाँ कुन्तक के उद्धरण के आधार पर राघवन से प्रेरणा प्राप्त कर बाबू जी ने यह सिद्ध किया है कि 'शैली ही व्यक्तित्व है' का सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र के लिए अपरिचित नहीं था। कुल मिलाकर प्रो० गुलाबराय के रीति-गुण विवेचन में प्राच्य और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय दृष्टिगत होता है, और यह उनकी अपनी विशेषता है।

सुमित्रानन्दन पन्त

वर्तमान युग हिन्दी काव्य में कला के पुनरुत्थान का युग है—कला की समृद्धि की दृष्टि से छायावाद का स्थान हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। छायावाद में कला की यत्नज तथा अयत्नज दोनों प्रकार की शोभा का उत्कर्ष मिलता है, और इस उत्कर्ष में सबसे अधिक योगदान है पंतजी का। पंतजी में छायावाद की मणि-कुट्टिम कला का अपूर्व वैभव है। वामन की वैदर्भी रीति और उसके समग्र गुणों की सम्पदा पंत-काव्य से अधिक और कहाँ मिलेगी? पद-रचना-सौन्दर्य पंत की कला की विशेषता है। किन्तु सिद्धान्त रूप में पंतजी रीतिवादी नहीं हैं—उन्होंने भी रीतिवाद का विरोध ही किया है। पल्लव की भूमिका में उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने बहुमूल्य विचार प्रकट किये हैं।

रीतिकाव्य की रूढ़ि-ग्रस्त पद-रचना की कदर्थना करते हुए पंतजी ने लिखा है—'भाव और भाषा का ऐसा शुक्र-प्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एकस्वर रिमक्ति, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास तथा तुकों की ऐसी अश्रान्त उपलब्ध वृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है? घन की घहर, मेकी की भहर, फिल्ली की भहर, बिजली की बहर, मोर की कहर, समस्त संगीत तुक की एक ही नहर में बहा दिया।'

पंतजी का अभिमत है कि ब्रजभाषा में केवल माधुर्य और सौकुमार्य गुणों का ही उत्कर्ष सम्भव है—अतएव वह पांचाली सदृश निर्जीव रीति के ही उपयुक्त है। काव्य की समर्थ भाषा में समस्त गुणों की सम्पदा होनी चाहिए। इसी तथ्य को अपनी रोचक लाक्षणिक शैली में अभिव्यक्त करते हुए वे कहते हैं :

“ब्रज-भाषा की उपत्यका में, उसकी स्निग्ध अंचल-छाया में सौन्दर्य का काश्मीर भले ही बसाया जा सके, जहां चाँदनी के भरने राशि राशि मोती बिखराते हों, विहग-कुल का कलरव छावापृथ्वी को स्वर के तारों से गूँथ देता हो, सहस्र-रंगों की पुष्प-शय्या पर कल्पना का इन्द्रधनुष अर्ध-प्रसुप्त पड़ा हो, जहां सौन्दर्य की वासन्ती नन्दन-वन का स्वप्न देखती हो, पर उसका वल-स्थल इतना विशाल नहीं कि उसमें पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्ध, जल-स्थल, अनिल-आकाश, ज्योति-अन्धकार, वन-पर्वत, नदी-घाटी, नहर-खाड़ी, दीप-उपनिवेश, उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक का प्राकृतिक सौन्दर्य, उष्ण-शीत-प्रधान देशों के वनस्पति-वृक्ष, पुष्प-पौधे, पशु-पक्षी, विविध प्रदेशों का जल-वायु, आचार-व्यवहार,—जिसके शब्दों में वात-उत्पात, बह्नि-बाढ़, उल्का-भूकम्प सब कुछ समा सके, बांधा जा सके, जिसके पृष्ठों पर मानव-जाति की सभ्यता का उत्थान-पतन, वृद्धि-विनाश, आवर्तन-विवर्तन, नूतन-पुरातन सब कुछ चित्रित हो सके।”

(पल्लव भूमिका पृ० १४-१५)

रीतिकाव्य के हास युग में हीनतर कवियों के हाथ में पड़ कर रीति रूढ़ि का पर्याय बन गई थी। द्विवेदी युग के कवियों ने उसके रूढ़ि-पाश तो काट कर फेंक दिये—उसकी संजीवन भी दिया, परन्तु वे उसके व्यक्तित्व को उचित समृद्धि प्रदान नहीं कर सके। यह परिष्कृति और समृद्धि उसे पंत जी से प्राप्त हुई। रीति रूढ़ि-मुक्त हुई, नवीन जीवन के अनुकूल गुण-सम्पदा से समृद्ध हुई, और कदाचित् फिर एक दूसरे प्रकार की रूढ़ियों में बंधने लगी। इस प्रकार सिद्धान्त की दृष्टि से रीतिवाद के समर्थक न होते हुए भी व्यवहार की दृष्टि से वर्तमान युग में रीति का सबसे अधिक उत्कर्ष पंत जी ने ही किया है।

सामान्य रूप से वर्तमान युग की कला में रीति की अपेक्षा अभिव्यंजना का ही प्राधान्य रहा है। छायावाद की ही कला में अभिव्यंजना का अद्भुत विकास मिलता है। छायावाद के उपरान्त अब अभिव्यंजना-विषयक प्रयोगों का युग आया है—जहां शब्द में उसके प्रचलित अर्थ से भारी अर्थ भरने के प्रयत्न चल रहे हैं जिनके फल-स्वरूप रचना की नयी रीतियाँ सामने आ रही हैं। परन्तु इन रीतियों का अस्तित्व वस्तु-परक न होकर सर्वथा

व्यक्ति-परक ही है, अतएव वामनीया रीतियों से इनका सम्पर्क सर्वथा टूट गया है।

हिन्दी काव्यशास्त्र में रीति-सिद्धान्त का यही संक्षिप्त इतिहास है। जैसा कि मैंने आरम्भ में ही कहा है हमारे काव्यशास्त्र में रीतिवाद सिद्धान्त रूप में कभी लोकप्रिय नहीं रहा—वैसे रीति के प्रभाव से अछूता काव्य कौन-सा हो सकता है ?

रीति-सिद्धान्त का अन्य सिद्धान्तों के साथ संबंध

रीति सम्प्रदाय, जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, भारतीय काव्यशास्त्र का देहवादी सम्प्रदाय है—अतएव वह अलंकारवाद तथा वक्रो-तिवाद का सहयोगी और रस तथा ध्वनिवाद का प्रतियोगी है। रीति-सिद्धान्त के स्वरूप को सम्यक् रूप से व्यक्त करने के लिए इन सहयोगी तथा प्रति-योगी सिद्धान्तों के साथ उसके सम्बन्ध पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

रीति तथा अलंकार—अलंकार सम्प्रदाय की स्थापनाएं इस प्रकार हैं :

(१) काव्य का सौंदर्य शब्द-अर्थ में निहित है।

(२) शब्द-अर्थ के सौंदर्य के कारण हैं अलंकारः—

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। दण्डी काव्यादर्श २. १।

(३) अलंकार के अन्तर्गत काव्य-सौंदर्य के सभी प्रकार के तत्व आ जाते हैं : काव्य का विषयगत सौंदर्य सामान्य अलंकार के अन्तर्गत आता है और शैलीगत सौंदर्य विशेष अलंकार के अन्तर्गत। इस प्रकार गुण, रीति आदि भी अलंकार हैं : काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः। (दण्डी) अर्थात् वैदर्भ तथा गौड़ीय मार्गों का भेद करने के लिए (श्लेष-प्रसाद आदि) कुछ अलंकारों का वर्णन पहले ही किया जा चुका है।

और सन्धि, संध्यंग, वृत्ति, लक्षण आदि भी अलंकार हैं :

यच्च सन्ध्यंग-वृत्त्यंग लक्षणाद्यागमान्तरे ।
व्यावर्णितमिदं चेष्टं अलंकारतयैव नः ॥ (दण्डी)

रीति सम्प्रदाय के प्रत्येक वामन की स्थापनाएं इससे मूलतः भिन्न न होते हुए भी परिणामतः भिन्न हो जाती है :

(१) वामन भी काव्य का सौंदर्य शब्द-अर्थ में निहित मानते हैं ।

(२) वामन भी अलंकार का प्रयोग काव्य-सौंदर्य के पर्याय रूप में करते हैं : सौंदर्यमलंकारः । परन्तु उनका आशय दण्डी आदि से भिन्न है ।

(३) वे अलंकार की दो कोटियाँ मान लेते हैं : गुण और अलंकार । माधुर्यादिगुण सौंदर्य के मूल कारण अर्थात् काव्य के नित्य धर्म हैं, और उपमादि अलंकार उसके उत्कर्षवर्धक अर्थात् अनित्य धर्म हैं । दूसरे शब्दों में गुण नित्य अलंकार हैं और प्रसिद्ध 'अलंकार' अनित्य । इस प्रकार वामन अलंकार की परिधि संकुचित कर देते हैं और उसकी कोटि अपेक्षाकृत हीन हो जाती है । वामन स्पष्ट कहते हैं कि अकेला गुण काव्य को शोभा-सम्पन्न कर सकता है किन्तु अकेला अलंकार नहीं कर सकता । काव्य में यदि गुण का मूल सौंदर्य ही न हो तो 'अलंकार' उसे और भी कुरूप बना देता है ।

बस यहीं आकर अलंकार सिद्धान्त और रीति सिद्धान्त में अन्तर पड़ जाता है । दोनों का दृष्टिकोण मूलरूप में समान हैं :—दोनों ही काव्य-सौंदर्य को शब्द-अर्थ में निहित मानते हैं, दोनों ही अलंकार को समिष्टि रूप में काव्य-सौंदर्य का पर्याय मानते हैं । परन्तु अलंकार सम्प्रदाय जहां उपमा आदि 'अलंकारों' को मुख्य रूप से और अन्य गुण, वृत्ति, लक्ष्य आदि को उपचार रूप से अलंकार मानता है, वहां रीति सम्प्रदाय रीति और गुण को मुख्य रूप से और उपमादि को गौण रूप से अलंकार मानता है । अर्थात् रीति सम्प्रदाय में गुण अथवा गुणात्मा रीति की प्रधानता है, और उपमादि 'अलंकारों' की स्थिति अपेक्षाकृत हीन है—किन्तु अलंकार सम्प्रदाय में उनकी स्थिति यदि गुण आदि से श्रेष्ठतर नहीं तो कम से कम उनके समकक्ष अवश्य है ।

यहां यह प्रश्न उठता है कि पारिभाषिक शब्दों के आवरण को हटा कर गुणात्मा रीति और 'अलंकार' में वस्तुगत भेद क्या है ? और स्पष्ट शब्दों में, शब्द-अर्थ का कौनसा प्रयोग रीति है, कौन सा 'अलंकार' ? वामन ने रीति

का लक्षण किया है विशिष्टा पदरचना—अर्थात् गुणमयी पदरचना। गुण के दो भेद हैं शब्द-गुण और अर्थ-गुण : शब्द-गुण में वर्ण-योजना तथा समास-प्रयोग पर आश्रित सौंदर्य और अर्थ-गुण में उपयुक्त सार्थक शब्द-चयन एवं रागात्मक तथा प्रज्ञात्मक तथ्यों के सुचारु क्रम-बन्धन आदि का अन्तर्भाव है। इस प्रकार रीति से अभिप्राय ऐसी रचना से है जो अपनी वर्ण-योजना, समस्त पदों के कुशल प्रयोग, उपयुक्त अर्थवान् शब्दों के चयन तथा भावों एवं विचारों के सुचारु क्रम-बन्धन के कारण मन का प्रसादन करती है। अतएव रीति में रचना अर्थात् व्यवस्था एवं अनुक्रम का सौंदर्य है। अलंकार का सौंदर्य अनेक अंशों में इससे भिन्न है। अलंकारों को अलंकारवादियों ने शब्द-अर्थ के (काव्य) शोभाकर धर्म कहा है। धर्म शब्द से सबसे पहले तो स्फुटता का द्योतन होता है, अर्थात् अलंकार रचना का व्यवस्थित सौंदर्य न होकर स्फुट सौंदर्य-विधायक तत्व है। दूसरे उसमें चमत्कार का भी आभास है : आधुनिक शब्दावली में रीति वस्तुगत शैली की पर्याय है और अलंकार उक्ति-चमत्कार का अथवा शब्द-अर्थ के प्रसाधन का—वामन उसको अतिरिक्त प्रसाधन ही मानते हैं। इन दोनों में परस्पर क्या सम्बन्ध है, अब यह प्रश्न है ? इसका उत्तर यह है कि रीति का क्षेत्र अधिक व्यापक है—अलंकार रीति का अंग है : वामन ने और पाश्चात्य आचार्यों ने उसे रीति या शैली का अंग रूप माना है। इसके अतिरिक्त, यद्यपि रीति का विधान भी प्रायः वस्तु-परक ही है, फिर भी अर्थ-गुण कान्ति या अर्थ-गुण माधुर्य में व्यक्ति-तत्त्व का सन्भाव रहता है। अलङ्कार में भी रसवत् तथा ऊर्जस्विन् आदि अलङ्कारों का अन्तर्भाव व्यक्तित्व के समावेश का ही प्रयास है, परन्तु वहां रसवत् आदि अलङ्कारों का कोई विशेष महत्व नहीं है। रीति सम्प्रदाय में अन्य गुणों के साथ अर्थ-गुण कान्ति भी वैदर्भी रीति अथवा सत्काव्य का अनिवार्य तत्व है—इस प्रकार रस का भी सत्काव्य के साथ अनिवार्य सम्बन्ध अप्रत्यक्ष रूप में हो ही जाता है। अतएव अलङ्कार-सिद्धान्त को अपेक्षा रीति-सिद्धान्त में व्यक्ति या आत्म तत्व अधिक है।

रीति और वक्रोक्ति : कुतक के अनुसार वक्रोक्ति का अर्थ है वैदर्भ्य-भंगी-भणिति। वैदर्भ्य का अर्थ है काव्य या कला नैपुण्य जो अर्जित विद्वत्ता या शास्त्र-ज्ञान से भिन्न प्रतिभा-जन्य होता है। भंगी-भणिति का अर्थ है उक्ति-चारुत्व। अतएव वक्रोक्ति का अर्थ हुआ कवि-प्रतिभा-जन्य उक्ति-

चारुत्व । यह वक्रता या चारुत्व छः प्रकार का होता है, वर्ण-वक्रता, पद-पूर्वार्ध-वक्रता अर्थात् पर्याय शब्दों तथा विशेषण आदि का चारु प्रयोग, पद-परार्ध-वक्रता अर्थात् प्रत्यय-वक्रता, वाक्य-वक्रता अर्थात् अर्थालङ्कार-प्रयोग, प्रकरण-वक्रता या कथा के किसी प्रकरण की चारु कल्पना, प्रबन्ध-वक्रता या प्रबन्ध-विधान-कौशल । इस प्रकार वक्रोक्ति का क्षेत्र रीति की अपेक्षा अत्यन्त व्यापक है; वर्ण से लेकर प्रबन्ध-विधान तक का चारुत्व उसके अन्तर्गत समाविष्ट है । रीति का क्षेत्र तो वास्तव में वक्रता के पहले चार भेदों तक ही सीमित है : वर्ण-वक्रता रीति के शब्द-गुणों की वर्ण-योजना है, पद-पूर्वार्ध तथा पदपरार्ध वक्रता में अर्थ-गुण ओज, उदारता, सौकुमार्य आदि का अन्तर्भाव हो जाता है, वाक्य-वक्रता में अर्थालङ्कार हैं ही । वप रीति का अधिकार-क्षेत्र यहीं समाप्त हो जाता है । वह वर्ण, पद, तथा वाक्य से आगे नहीं जाती : प्रकरण-कल्पना, प्रबन्ध-कल्पना उसकी परिधि से बाहर हैं । अर्थात् वह काव्य की भाषा-शैली तक ही सीमित है, काव्य की व्यापक वर्णन-शैली तक उसकी पहुँच नहीं है । रीति में वर्णों का, पदों का तथा भावों और विचारों का क्रम-बंधन मात्र है, जीवन की घटनाओं का, जीवन के स्थिर दृष्टिकोणों का वह क्रम-बन्धन या नियोजन नहीं आता जो वक्रोक्ति में आता है । और स्पष्ट शब्दों में रीति केवल भाषा-काव्य-शैली तक ही सीमित है, किन्तु वक्रोक्ति समस्त काव्य-कौशल की पर्याय है । इस प्रकार जैसा कि स्वयं कुंतक ने ही निर्देश किया है रीति या मार्ग वक्रोक्ति का एक अंग मात्र है : वक्रोक्ति कवि-कर्म है. रीति कवि-मार्ग है ।

दोनों सम्प्रदायों का दृष्टिकोण कुछ अंशों में समान है । दोनों में कवि-कर्म की बहुत-कुछ वस्तु परक व्याख्या है । वर्ण-वक्रता से लेकर प्रबन्ध-वक्रता तक वक्रोक्ति के सभी रूपों में काव्य को कवि का कौशल मात्र माना गया है—कवि-कर्म अन्ततः नियोजन की कुशलता मात्र उहरता है : उसमें कवि की प्रतिभा को तो आधार माना गया है, परन्तु कवि की सवासनता अथवा हार्दिक विभूतियों की और उधर पाठक और श्रोता की सहृदयता की उपेक्षा है । इस प्रकार रस की उपेक्षा तो दोनों सम्प्रदायों में है, परन्तु इसके आगे व्यक्ति-तत्त्व की उपेक्षा दोनों में समान नहीं मानी जा सकती क्योंकि वक्रोक्ति को कुन्तक निसर्गतः कविप्रतिभा-जन्य मानते हैं—उसका प्राणतत्त्व है विदग्धता जो विद्वता से भिन्न है । कहने का तात्पर्य यह है कि रीति सम्प्रदाय तथा वक्रोक्ति सम्प्रदाय के दृष्टिकोणों में यहां तक तो मूलभूत समानता है कि

दोनों ही रस की अपेक्षा कर कवि-कर्म का वस्तु-परक विश्लेषण करते हैं, परन्तु आगे चलकर वक्रोक्तिवाद व्यक्ति-तत्त्व को 'कवि-प्रतिभा' के रूप में आग्रह-पूर्वक स्वीकार कर लेता है। इसमें सन्देह नहीं कि वक्रोक्तिवाद की 'कवि-प्रतिभा' आधुनिक शब्दावली में सहृदयता की अपेक्षा कल्पना की ही महत्व-स्वीकृति है, परन्तु फिर भी कुन्तक का दृष्टिकोण व्यक्ति-तत्त्व की महत्ता को तो स्वीकार करता ही है। वक्रोक्ति को प्रतिभा-जन्य मानना, विदग्धता को वक्रता का प्राणतत्त्व मानना, और मार्ग (रीति) में कवि-स्वभाव को मूर्धन्य पर स्थान देना—यह सब व्यक्ति-तत्त्व का ही आग्रह है। वास्तव में कुन्तक के समय तक ध्वनि-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हो चुकी थी और रस का उत्कर्ष फिर स्थापित हो चुका था, इसलिए वामन की अपेक्षा उनके सिद्धान्त में व्यक्ति-तत्त्व का प्राधान्य होना स्वाभाविक ही था।

रीति और वक्रोक्ति का साम्य और वैषम्य संक्षेप में इस प्रकार है :

(१) दोनों के मूल दृष्टिकोणों में पर्याप्त साम्य है—दोनों में काव्य का वस्तु-परक विवेचन है। दोनों सिद्धान्त काव्य की रचना-नैपुण्य मानते हैं—आत्म-सृजन नहीं।

(२) रीति की अपेक्षा वक्रोक्ति की परिधि व्यापक है : रीति केवल वर्ण, पद, तथा वाक्य की रचना तक ही सीमित है, वक्रोक्ति का क्षेत्र प्रकरण तथा प्रबन्ध रचना तक व्याप्त है।

(३) रीति की अपेक्षा वक्रोक्ति में व्यक्ति-तत्त्व का कहीं अधिक समावेश है—वक्रोक्ति में कवि-प्रतिभा और कवि-स्वभाव को आधार माना गया है। इसी अनुपात से वक्रोक्ति रीति की अपेक्षा रस-सिद्धान्त के भी निकट है।

रीति और ध्वनि : रीति और ध्वनि सिद्धान्तों के दृष्टिकोण परस्पर-विपरीत हैं। रीति सम्प्रदाय देहवादी है और ध्वनि-सम्प्रदाय आत्मवादी। ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना रीति की स्थापना के लगभग अर्धशताब्दी उपरांत हुई है, अतएव प्रत्यक्षरूप में रीति-सिद्धान्त पर ध्वनि का प्रभाव या रीति में उसका अंतर्भाव आदि तो सम्भव नहीं हो सकता किन्तु, जैसा कि आनन्दवर्धन ने सिद्ध किया है, रीति-सिद्धान्त में ध्वनि के प्रच्छन्न संकेत निस्संदेह मिलते हैं। वामनकृत अर्थालंकार वक्रोक्ति के लक्षण—सादृश्यालक्षणा वक्रोक्ति : में व्यंजना की स्वीकृति है। स्वयं रीति-गुण के विवेचन में ही अनेक स्थलों पर ध्वनि के

संकेत दूंद निकालना कठिन नहीं है। उदाहरण के लिए अनेक शब्द-गुणों में वर्ण-ध्वनि का संकेत है, अर्थ-गुण श्रोज के अन्तर्गत अर्थ-प्रौढ़ि के कई रूपों में भी ध्वनि की प्रच्छन्न स्वीकृति है : 'समास' भेद में केवल 'निमिषति' कह देने से ही दिवर्गना का व्यक्तित्व ध्वनित हो जाता है, इसी प्रकार 'साभि-प्राय विशेषण' प्रयोग में पर्याय-ध्वनि (पिनाकी और कपाली के ध्वनि-भेद) का ही प्रकारान्तर से वर्णन है। अर्थ-गुण कान्ति में तो असंलक्ष्यक्रम ध्वनि की प्रत्यक्ष स्वीकृति है ही।

ध्वनि-सम्प्रदाय समन्वयवादी है। ध्वनिकार आरम्भ में ही प्रतिज्ञा करके चले हैं कि ध्वनि में सभी सिद्धान्तों का समाहार हो जाएगा, अतएव रीति का भी ध्वनि में समाहार हुआ है। रीति के बाह्य तत्वों वर्ण-योजना और समास का अन्तर्भाव वर्ण-ध्वनि और रचना-ध्वनि में किया गया है। उधर दश गुणों का अन्तर्भाव तीन गुणों के भीतर करते हुए उनका असंलक्ष्य-क्रम ध्वनि रस से अचल सम्बन्ध स्थापित किया गया है। वामन ने रीति को गुणात्मक मानते हुए रीति को प्रधानता दी थी—और कम से कम उसे गुण के समतुल्य अवश्य माना था। ध्वनिवादियों ने उसे संघटना रूप मानते हुए गुण के आश्रित माना : गुण की स्थिति अचल है, संघटना को चल है। इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त में रीति का स्थान गौण भी हो जाता है।

रीति और रस : रीति-सिद्धान्त की स्थापना करते समय वामन के समक्ष रस-सिद्धान्त निश्चय ही विद्यमान था। वास्तव में रस को दृश्यकव्योचित मानने के कारण ही अलंकार और रीति सिद्धान्तों की उद्भावना हुई। वामन ने काव्य में रस को विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया और उसे रीति के गुणों में से केवल एक गुण अर्थ-गुण कान्ति का आधार-तत्त्व माना। इस प्रकार उनके मत से रस रीति का एक अङ्ग मात्र है। रस की दीप्ति रीति की शोभा में योगदान करती है—यही रस की सार्थकता है। अर्थात् रस अंग है, रीति अंगी। परन्तु इसके विपरीत रसवाद रस को आत्मा और रीति को केवल अंगसंस्थानवत् मानता है। वर्णगुम्फ और समास से निर्मित रीति गुण पर आश्रित है और गुण रस का धर्म है, अतएव गुण के सम्बन्ध से रीति रसाश्रिता है। उसके स्वरूप का निर्णय रस के द्वारा ही होता है : आनन्दवर्धन ने रसौचित्य को रीति का प्रधान नियामक माना है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार कीजिए। रस चित्त की आनन्दमयी स्थिति है। गुण भी चित्त की स्थितियाँ ही हैं : माधुर्य द्रुति है,

ओज दीप्ति और प्रसाद परिव्याप्ति—ये रस-दशा के पूर्व की स्थितियाँ हैं जो चित्त को उस आनन्दमयी परिणति के लिए तैयार करती हैं। वर्ण तथा शब्द मन की स्थितियों के प्रतीक हैं—वे स्वयं मन की स्थितियाँ तो नहीं हैं परन्तु विशेष मनोदशाओं के संस्कार उन पर आरुढ़ हैं। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि कुछ वर्ण अथवा शब्द चित्त की द्रुति के अनुकूल पढ़ें और कुछ दीप्ति के और कुछ परिव्याप्ति के। इस प्रकार ये वर्ण और शब्द द्रुति-रूप माधुर्य के, दीप्ति-रूप ओज के, और परिव्याप्ति-रूप प्रसाद के अनुकूल या प्रतिकूल पड़ते हैं। यही इनकी सार्थकता है। अलंकार की तरह रीति भी रस का उपकार करती हुई काव्य में अपनी सार्थकता सिद्ध करती है। इसीलिए उसे अंग-संस्नान के समान माना गया है। सुन्दर शरीर रचना जिस प्रकार आत्मा का उत्कर्ष-वर्धन करती है, उसी प्रकार रीति भी रस का उपकार करती है।

इस प्रकार रीति और रस सम्प्रदायों के दृष्टिकोण भी मूलतः परस्पर विपरीत हैं। रीति सम्प्रदाय देह को ही जीवन-सर्वस्व मानता हुआ आत्मा को उसका एक पोषक तत्व मात्र मानता है, और उधर रस सम्प्रदाय आत्मा को मूल सत्य मानता हुआ देह को उसका बाह्य माध्यम मात्र समझता है। दोनों की ओर से समझौते का प्रयत्न हुआ है, परन्तु यह समझौता परस्पर सम्मान-सूचक नहीं है : रीति रस को अपने उपकरण रूप में ग्रहण करती है और रस रीति को अपने अंग-संस्थान रूप में स्वीकार करता है। वाणी और अर्थ का वह काम्य समन्वय, जिसका आवाहन कालिदास ने किया है, दोनों की साम्प्रदायिक भावना के कारण मान्य नहीं हो सका—रीति ने अपने स्वरूप को आवश्यकता से अधिक वस्तुगत बना लिया है और रस ने व्यंजना के द्वारा अपने स्वरूप को अत्यधिक व्यक्ति-परक। पाश्चात्य साहित्य में मनो-विज्ञान के प्रभाववश आज अनुभूति और अभिव्यक्ति अथवा भाव और शैली का जो अनिवार्य सहभाव माना गया है वह संस्कृत काव्यशास्त्र में 'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति में ही सीमित होकर रह गया, विधान रूप में मान्य न हो सका।

रीति-सिद्धान्त की परीक्षा

रीति-सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र में अन्ततः मान्य नहीं हुआ—अलंकार सम्प्रदाय तो फिर भी किसी न किसी रूप में वर्तमान रहा, परन्तु वामन के उपरान्त रीति-सिद्धान्त प्रायः निश्शेष ही हो गया। रीति को काव्य की आत्मा मानने वाला कोई बिरला ही पैदा हुआ, समस्त संस्कृत काव्यशास्त्र में वामन के पश्चात् केवल दो नाम ही इस प्रसंग में लिए जा सकते हैं : एक वामन के टीकाकार तिप्पभूषाल का—असवो रीतयः, और दूसरा अमृतानन्द-योगिन् का—रीतिरात्माऽत्र (अलंकारसंग्रह)। इनमें से एक तो केवल व्याख्याता मात्र है, और दूसरे का कोई विशिष्ट स्थान नहीं।

यह स्थाभाविक भी था क्योंकि अपने उग्र रूप में रीतिवाद की नींव इतनी कच्ची है कि वह स्थायी नहीं हो सकता था। देह को महत्त्व देना तो आवश्यक है, परन्तु उसे आत्मा या जीवन का मूल आधार ही मान लेना प्रवंचना है।

रीतिवाद में पद-रचना (शैली) को ही काव्य का सर्वस्व माना गया है—रस को शैली का अंग माना गया है और वह भी महत्त्वपूर्ण अंग नहीं। एक तो उसका समावेश बस गुणों में से एक गुण कान्ति में ही है और दूसरे स्वयं कान्ति अपने आप में कोई विशिष्ट गुण नहीं है क्योंकि कान्ति और ओज गौड़ीया के गुण माने गये हैं और गौड़ीया को वामन ने निश्चय ही अप्रधान रीति माना है : “इनमें से पहली अर्थात् वैदर्भी ही ग्राह्य है क्योंकि उसमें सभी गुण वर्तमान रहते हैं। शेष दो अर्थात् गौड़ीया और पांचाली नहीं क्योंकि उनमें थोड़े से ही गुण होते हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि इन दो का भी

अभ्यास करना चाहिये क्योंकि ये वैदर्भी तक पहुँचने के सोपान हैं । यह ठीक नहीं है क्योंकि अतत्त्व के अभ्यास से तत्त्व की प्राप्ति सम्भव नहीं है ।” (काव्यालंकारसूत्र) । गौड़ीया के इस तिरस्कार से यह स्पष्ट है कि रीति सिद्धान्त में कान्ति और उसके आधार तत्त्व रस का कोई विशेष महत्व नहीं है । रस का यह तिरस्कार या अवमूल्यन ही अन्त में रीतिवाद के पतन का कारण हुआ और यही संगत भी था । काव्य का मूल गुण है रमणीयता, उसकी चरम सिद्धि है सहृदय का मनःप्रसादन, और उद्दिष्ट परिणाम है चेतना का परिष्कार । यह सब भावों का ही व्यापार है—भाव-तत्त्व के कारण ही काव्य में रमणीयता आती है, भाव-तत्त्व ही सहृदय के भावों को उद्बुद्ध कर उन्हें उत्कट आनन्दमयी चेतना में परिणत करता है, और उसी के द्वारा भावों का परिष्कार सम्भव है । शैली में भी रमणीयता का समावेश भाव-तत्त्व के द्वारा ही होता है : भावों की उत्तेजना से ही वाणी में उत्तेजना आती है—चित्त के चमत्कार से ही वाणी में चमत्कार का समावेश होता है, यह स्वतः -सिद्ध मनोवैज्ञानिक तथ्य है । सामान्य एवं व्यापक रूप में भी जीवन का प्रेरक तत्त्व राग ही है । अतएव राग या रस का तिरस्कार दर्शन भी नहीं कर सका, काव्य का तो समस्त व्यापार ही उस पर आश्रित है । रीति-सिद्धान्त ने रीति को आत्मा और रस को एक साधारण अंग मात्र मान कर प्रकृत क्रम का विपर्यय कर दिया, और परिणामतः उसका पतन हुआ ।

परन्तु फिर भी रीतिवाद सर्वथा सारहीन अथवा निर्मूल्य सिद्धान्त नहीं है । वामन अत्यंत मेधावी आचार्य थे—उनके अपने युग की परिसीमाएँ थीं, तथापि उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है, और उनके सिद्धान्त का अपना उज्ज्वल पक्ष भी है ।

सब से पहले तो वह इतना एकांगी नहीं है जितना प्रतीत होता है । उसके अनुसार काव्य का आदर्शरूप वैदर्भी में प्राप्त होता है जहां दश शब्द-गुणों और दश अर्थ-गुणों की पूर्ण सम्पदा मिलती है । दश शब्द-गुणों के विश्लेषण से, आधुनिक आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में, निम्नलिखित काव्य-तत्त्व उपजब्ध होते हैं :

(१) वर्ण-योजना का चमत्कार—

(क) भंकार (सौकुमार्य तथा श्लेष गुणों में)

(ख) औज्ज्वल्य (कान्ति)

(२) शब्द-गुम्फ का चमत्कार (ओज, प्रसाद, समाधि, समता, अर्थव्यक्ति)

(३) स्फुट शब्द का चमत्कार (माधुर्य, कान्ति)

(४) लय का चमत्कार—(उदारता)

उधर दश अर्थ-गुणों का विश्लेषण निम्नलिखित काव्य-तत्त्वों की ओर निर्देश करता है :

(१) अर्थ-प्रौढ़ि—अर्थात् समास तथा व्यास शैलियों का सफल प्रयोग, साभिप्राय विशेषण-प्रयोग आदि । (ओज)

(२) अर्थवैमल्य—अन्यून-अनतिरिक्त शब्दों का प्रयोग, आनुगुणत्व (प्रसाद) ।

(३) उक्ति-वैचित्र्य (माधुर्य)

(४) प्रक्रम (समता)

(५) स्वाभाविकता तथा यथार्थता । (अर्थव्यक्ति)

(६) अग्राम्यत्व—अभद्र, अमंगल तथा अश्लील शब्दों का त्याग (औदार्य और सौकुमार्य)

(७) अर्थ-गौरव (समाधि, श्लेष)

(८) रस (कान्ति)

इनमें से अर्थ-गौरव, रस, अग्राम्यत्व तथा स्वाभाविकता वर्य विषय हैं और अर्थ-वैमल्य, उक्ति-वैचित्र्य, प्रक्रम, अर्थ-प्रौढ़ि अर्थात् समास और व्यास शैली तथा साभिप्राय-विशेषण-प्रयोग वर्णन-शैली के गुण हैं ।

इस प्रकार वामन के अनुसार आदर्श काव्य के मूल तत्त्व हैं :—

शैलीगत :— अर्थवैमल्य (आनुगुणत्व), उक्ति-वैचित्र्य, प्रक्रम, अर्थ-प्रौढ़ि अर्थात् समास-शक्ति, व्यास-शक्ति तथा साभिप्राय-विशेषण-प्रयोग ।

विषय-गत :— अर्थ-गौरव, रस, परिष्कृति (अग्राम्यत्व) तथा स्वाभाविकता ।

आधुनिक आलोचना-शास्त्र के अनुसार काव्य के चार तत्त्व हैं : राग-तत्त्व, बुद्धितत्त्व, कल्पना और शैली । उपर्युक्त गुणों में ये चारों तत्त्व यथावत्

समाविष्ट हैं। रस, परिष्कृति (अग्राम्यत्व) तथा स्वाभाविकता रागतत्व हैं ; अर्थ-गौरव बुद्धितत्व है ; उक्ति-वैचित्र्य तथा साभिप्राय विशेषण कल्पना-तत्त्व हैं ; और अर्थवैमल्य, समासगुण तथा प्रक्रम शैली के तत्त्व हैं ।

अतएव वामन का रीतिवाद वास्तव में सर्वथा एकांगी नहीं है—उसमें भी अपने ढंग से काव्य के सभी मूल तत्वों का समावेश है ।

इसके अतिरिक्त रीति अथवा शैली की महत्व-प्रतिष्ठा अपने आप में भी कोई नगण्य सिद्धान्त नहीं है । वाणी के बिना अर्थ गूंगा है । शैली के अभाव में भाव उस कोकिल के समान असहाय है जिसे विधाता ने हृदय का मिठास देकर भी रसना नहीं दी और कल्पना उस पक्षी के समान असमर्थ है जिसे, पर बांध कर, पिंजड़े में डाल दिया गया हो । वास्तव में काव्य को शास्त्र से पृथक् करने वाला तत्त्व अनिवार्यतः शैली ही है । शास्त्र में विचार की समृद्धि तो रहती ही है—कल्पना का भी प्रचुर उपयोग हो सकता है; इसी प्रकार भाव का सौन्दर्य भी लोक-वार्ता में निस्सन्देह रहता है, परन्तु अभिव्यञ्जना-कला—शैली—के अभाव में वे काव्य-पद के अधिकारी नहीं हो सकते । इस दृष्टि से शैलीतत्व की अनिवार्यता असंदिग्ध है, और रीतिवाद ने उस पर बल देकर काव्यशास्त्र का निस्संदेह ही उपकार किया है ।

